भाग ५

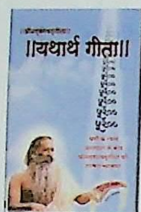
अमृतवाणी

गूढ़ पदों के सन्देश



स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी महाराज

हमारे प्रकाशन



यथार्थ गीता -
'यथार्थ गीता' में
श्रीकृष्ण की वाणी के
आशय को भली प्रकार
यथावत् समझाया है।
यह एक कालजयी कृति है।

२८ भाषाओं में



अंग क्यों फड़कते हैं और
क्या कहते हैं? -
मानव शरीर के विभिन्न हिस्सों में
होने वाले स्पन्दनों का कारण और
उसके संकेतों का विश्लेषण किया गया है
जो कि साधना में काफी सहायक है।

४ भाषाओं में



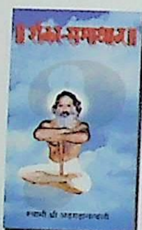
जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति -
पूज्य गुरु परमहंस
स्वामी श्रीपरमानन्दजी महाराज
के जीवन के वृत्तान्त, उनकी
अनुभूतियों एवं उपदेशों को
संकलित किया है। साधकों के लिए
यह बहुत उपयोगी ग्रन्थ है।

४ भाषाओं में



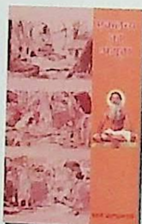
अनछुए प्रश्न -
वर्ण, मूर्तिपूजा, ध्यान, हठ, चक्र-भेदन
और योग जैसे विषयों को स्पष्ट कर
भ्रमित समाज का मार्गदर्शन किया गया है।

३ भाषाओं में



शंका समाधान -
समाज में प्रचलित सभी कुरीति,
रूढ़ि, आडम्बर और अन्धविश्वासों
का शमन एवं समाधान किया है।

५ भाषाओं में



एकलव्य का अंगूठा -
शिक्षा-गुरु और सद्गुरु में अन्तर
बतलाया गया है। शिक्षक, लोकजीवन
की कला सिखाते हैं जबकि
सद्गुरु जीवन में समृद्धि के साथ
परमश्रेय की जागृति और उस परमपद
की प्राप्ति कराते हैं जिससे पुरुष
आवागमन से मुक्त हो जाता है।

३ भाषाओं में



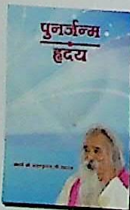
भजन किसका करें?-
लोग गाय, पीपल, देवी-देवताओं,
भूत-भवानी की पूजा, धर्म के नाम पर
कर रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इन सभी
भ्रान्तियों का निवारण करते हुए स्पष्ट
किया गया है कि सनातन धर्म क्या है?
इष्ट कौन है?
भजन किसका करें व कैसे करें?

६ भाषाओं में



षोडशोपचार पूजन पद्धति -
इस पुस्तम में यह बताया गया है कि
एक परमात्मा में श्रद्धा स्थिर कराकर,
उस एक परमात्मा का चिन्तन सिखाना ही
कर्मकाण्ड है।

३ भाषाओं में



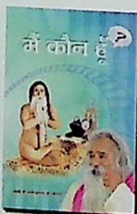
हिन्दी भाषा में

पुनर्जन्म

बौद्धिक स्तर पर यह एक उलझा हुआ प्रश्न है। मनुष्य जन्मा, जीवन-यापन किया; शरीर छूटा, चला भी गया; कुछ समझ ही नहीं पाया कि पुनर्जन्म है या नहीं। किन्तु योगाभ्यास की एक निश्चित ऊँचाई से मनुष्य जब गुजरता है तो उसे स्पष्ट दिखाई देता है कि पुनर्जन्म है? मैं क्या था? आगे कहाँ जाना है?

हृदय

शरीर में हृदय कहाँ है जिसमें परमात्मा का निवास है? हृदय का परिचय तथा परमात्मा को जानने की सम्पूर्ण विधि पर प्रकाश डाला गया है। क्रमोन्नत तीन शरीर हैं- स्थूल, सूक्ष्म और कारण। क्रमशः कारण शरीर के अन्तिम स्तर पर साधन पहुँचता है, तहाँ ईश्वर का निवास है। यह पुस्तिका इन्हीं प्रश्नों का पूर्ण परिचय देती है।



मैं कौन हूँ?

जन्म से ही नाना प्रकार के सम्बन्धों में भ्रम हो जाता है कि मैं कौन हूँ? यह जिज्ञासा यौगिक है। 'वासांसि जीर्णानि......'- शरीर एक वस्त्र है। यह शरीर छूटा, दूसरा मिला। तामस गुण के कार्यकाल में मृत्यु को प्राप्त हुआ पुरुष पशु, कीट-पतंग इत्यादि अधम योनि प्राप्त करता है। राजसी गुण के कार्यकाल में वह मनुष्य तन पाता है। सात्त्विक गुण के कार्यकाल में देव इत्यादि उन्नत योनि पाता है- हर हालत में योनि पाता है। अतः यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों है कि मैं कौन हूँ? वास्तव में जब द्रष्टा यह आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है तो वही आपका वास्तविक स्वरूप है।

हिन्दी भाषा में

।। ॐ नमः सद्गुरुदेवाय ।।

अमृतवाणी

सन्तों के गूढ़ पदों के सन्देश

पूज्य स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी महाराज के
मुखारविन्द से निःसृत अमृतवाणियों का संकलन

भाग – 5

प्रकाशक :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो इस्टेट, गाला नं. ५, मोगरा लेन (रेल्वे सब-वे के पास),
अंधेरी (पूर्व), मुंबई - ४०००६९, भारत

प्रकाशक :
श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट
न्यू अपोलो इस्टेट, गाला नं. ५,
मोगरा लेन (रेल्वे सब-वे के पास),
अंधेरी (पूर्व), मुंबई - ४०००६९, भारत
दुरध्वनी - ०२२-२८२५५३००
ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com
वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com

संस्करण - प्रथम, गुरू पूर्णिमा सन् २०१३ से सन् २०१४ - १०,००० प्रतियाँ
फेब्रुवारी, सन् २०१६ - ५,००० प्रतियाँ

मूल्य– रु. 100/00 मात्र

मुद्रक :
जॅक प्रिण्टर्स प्रा. लि.
जॅक कम्पाऊण्ड, दादोजी कोंडदेव क्रॉस लेन
भायखळा (पूर्व), मुम्बई - 400 027, भारत
फोन नं.- (0091-22) 2377 2222
ई–मेल - mail@jakprinters.com

ISBN 81-89308-91-2

अनन्तश्री विभूषित,
योगिराज, युग पितामह

परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्द जी

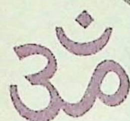
श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया-चित्रकूट

के परम पावन चरणों में

सादर समर्पित

अन्तःप्रेरणा





गुरु-वन्दना

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय ।।

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।

सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी।।

अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।।
योगी अद्वैष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।।

चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।

हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।

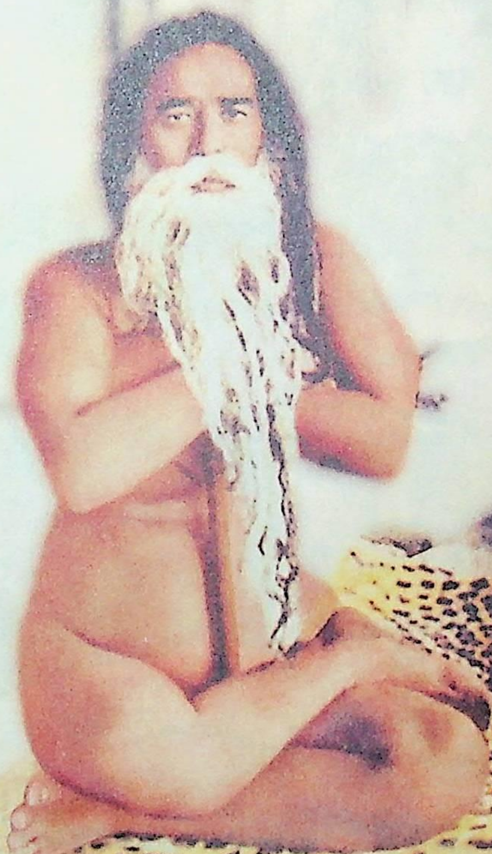
यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।।
जय सद्गुरु.........भारी।।

।। ॐ ।।





"आत्मने मोक्षार्थं जगत् हिताय च"



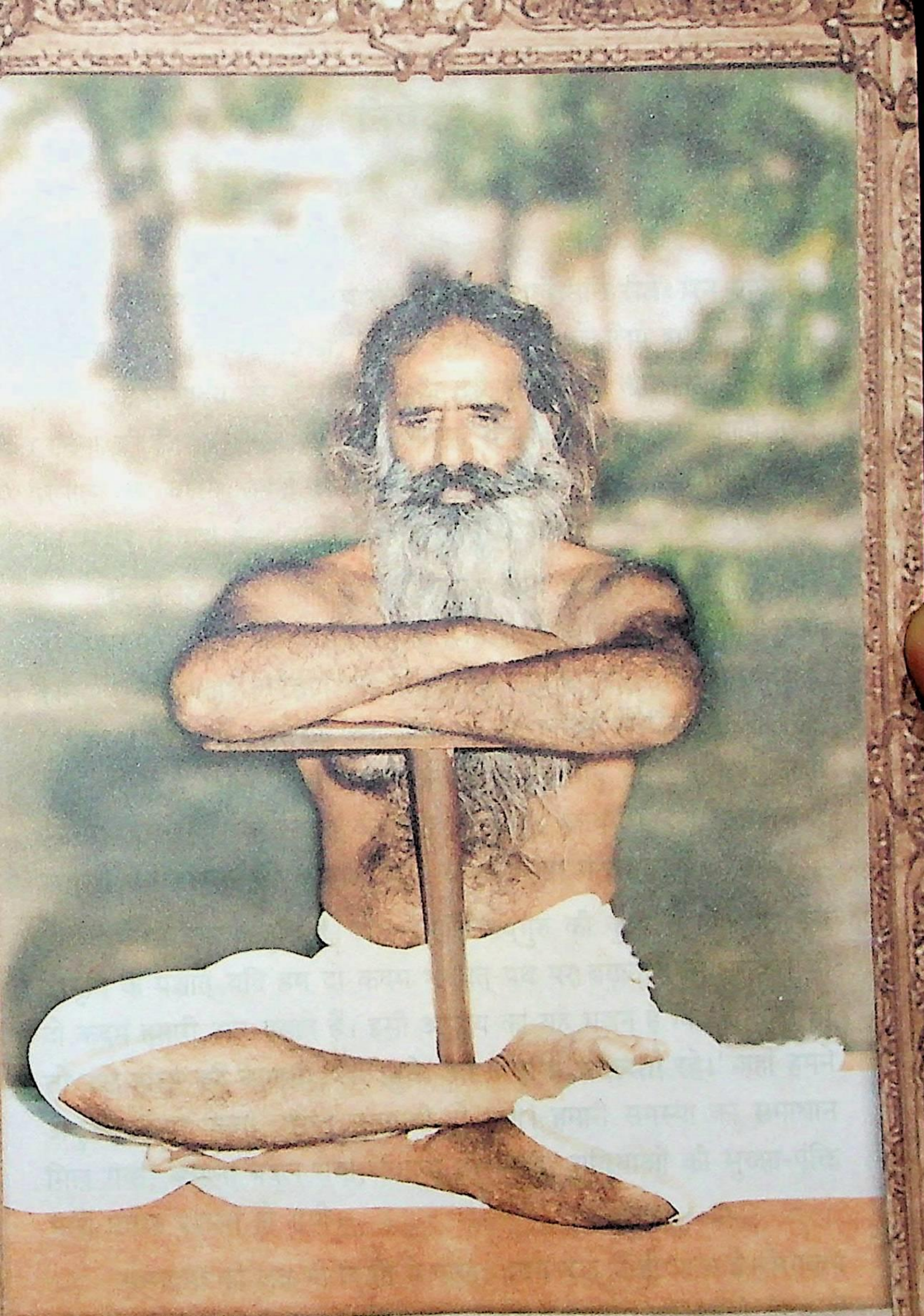
श्री श्री १००८ श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

जन्म : शुभ सम्वत् विक्रम १९६९ (सन् १९११ ई०)

महाप्रयाण : ज्येष्ठ शुक्ल ७, वि०सं० २०२६, दिनांक २३/०५/१९६९ ई०

परमहंस आश्रम अनुसुइया, चित्रकूट





श्री स्वामी अड़गड़ानन्दजी महाराज

(परमहंस महाराज का कृपा-प्रसाद)

निवेदन

धर्मानुरागी बहनो तथा भाइयो!

'हम हम करि धन धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते। मन पछितैहें अवसर बीते।' *(विनयपत्रिका, 198)* शाश्वत शान्ति के लिए ऋषियों ने नश्वर से परे एक परमात्मा की शोध किया और उसे प्राप्त करने की नियत विधि की संरचना की जिसकी अत्यन्त उन्नत अवस्था समाधि है। सम और आदि तत्त्व परमात्मा का दर्शन, स्पर्श और उसमें स्थिति मिल जाय जिसके लिए महान संत कबीर ने कहा है– **'संतो! सहज समाधि भली।'**

इस ईश्वर-पथ में साधक को निष्कपट होना चाहिए। मन में कुछ और जुबान पर कुछ और– यह आवरण घूँघट है। ऐसा दुराव करनेवाला साधक कभी कामयाब नहीं होता। निश्छल भाव से समर्पित साधक **'उदासीनो गतव्यथः'** *(गीता, 12/16)*– उसका चित्त ज्यों-ज्यों वासनाओं से सिमटता जायेगा, सुरत चरणों में लगती जायेगी, वह प्रकृति से उदासीन होता जायेगा, उसमें ईश्वरीय आलोक, दैवी सम्पद् की भीड़भाड़ बढ़ती जायेगी। यही **'आलम है उदासी का हसरत सी बरसती है।'** नामक भजन में द्रष्टव्य है।

भजन एक जागृति है। यह जागृति सद्गुरु की कृपा से होती है। इस जागृति के पश्चात् यदि हम दो कदम भगवत्-पथ पर बढ़ाते हैं तो भगवान भी दो कदम हमारी ओर बढ़ाते हैं। इसी आशय का यह भजन है कि **'बन्दगी हो तो उस शान की बन्दगी, सर झुके औ जमाना बदलता रहे।'** जहाँ हमने अनुनय-विनय किया, तुरन्त सुनवायी हो गयी। हमारी समस्या का समाधान मिल गया, जमाना बदल गया, विपदा टल गयी, सुविधाओं की सुरक्षा-पंक्ति भली प्रकार प्रशस्त हो गयी।

परमात्मा को जब भी किसी ने पाया, हृदय-देश में ही पाया है। भगवान को अन्यत्र कहीं से भागकर नहीं आना पड़ता। भगवान को अपने हृदय में प्रत्यक्ष करने के लिए साधक को अपने हृदय के मल-आवरण-विक्षेप की धुलाई करनी पड़ती है। इसी आशय का यह भजन है– **'धोबिया जल बीच**

मरत पियासा।' वह ब्रह्म-पीयूष सबके हृदय में है, उसी के मध्य वह खड़ा है किन्तु उसे पहचान नहीं पा रहा है क्योंकि '**सदगुरु धोबिया से परिचय नाहीं।**' सद्‌गुरु की शरण-सान्निध्य के बिना जीव की यह दुर्दशा हो रही है। सद्‌गुरु की शरण-सान्निध्य से भजन की जागृति के पश्चात् शिष्य भी धोबी है। वह ज्यों-ज्यों चिन्तन करता जायेगा, मल धुलता जायेगा, अंततः वह परमात्मा को प्रत्यक्ष कर लेगा।

यही संदेश संत कबीर ने '**पानी में मीन पियासी**' कहकर दिया है। मन ही मछली है। भक्ति ही जल है। उसके मध्य में तुम खड़े हो। भक्ति तुम्हारे हृदय में है, प्रसुप्त है। तुम उसे जागृत कर सकते हो, नहीं कर रहे हो, ध्यान नहीं दे रहे हो। जल के बीच खड़े हो किन्तु प्यासे मर रहे हो। यह सुन-सुनकर मुझे हँसी आ रही है।

भक्ति जब भी मिली है, सद्‌गुरु से मिली है। ज्योंही उनका शरण-सान्निध्य मिला, भजन जागृत हुआ तो '**ससुरा से गवना उलटि चला रे नैहरवा**' स अर्थात् वह परमात्मा। जब सुरा का सम्बन्ध उस परमात्मा से जुड़ जाता है, साधक के मन की लगाम भगवान के हाथ में हो जाती है। अभी तक जो जीव माया में भटक रहा था, गर्भवास की अनन्त यातनाओं की ओर जा रहा था, उन प्रभु के संरक्षण में अब '**उलटि चला रे नैहरवा**'– नैहर अर्थात् अपने मूल उद्‌गम परमात्मा की ओर गमन कर जाता है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! मैं न तो वेद से, न तप से, न दान से, न यज्ञ से और न कठोर साधनों से ही जानने योग्य हूँ। मुझे जानने का केवल एक उपाय है कि अनन्य भक्ति द्वारा मैं इस प्रकार जैसा कि तूने प्रत्यक्ष देखा है, देखने के लिए, स्पर्श करने के लिए और प्रवेश करने के लिए भी सुलभ हूँ। अनन्य भक्ति का नाम ही अर्जुन है। अनुरागरूपी अर्जुन! अनुराग दैवी सम्पद् की एक विशेष वृत्ति है जो आप सबके लिए भी सुलभ है। इसी प्रेरणा व प्रोत्साहन के साथ 'अमृतवाणी' का यह पंचम पुष्प आप सबको संप्रेषित है।

- प्रकाशक

अनुक्रमणिका

।। ॐ ।।

सन्तो! सहज समाधि भली

एक झेन फकीर ने अपने एक शिष्य को कागजों का पुलिन्दा दिया। जापान में महापुरुषों की एक प्रसिद्ध उपाधि है झेन फकीर! भारत में कुछ सन्तों को जैनमुनि कहा जाता है। लगता है जेन का ही अपभ्रंश झेन है; क्योंकि पूर्व महापुरुष सर्वत्र आते-जाते थे। पूर्वज दूर देशों में भी गये, एक धर्म का सन्देश दिया, आबाल-वृद्ध सबको अपने में दीक्षित किया। धर्म संकीर्ण कभी होता ही नहीं। यदि धर्म भी संकीर्ण है, कटता है, छँटता है, परिवर्तित होता है तो वह धर्म नहीं, धोखा है।

हाँ, तो जापान में एक झेन फकीर थे। उनकी उम्र पर्याप्त हो चली थी, वयोवृद्ध थे। उन महापुरुष का अन्तिम समय था। लगभग दो सौ विरक्त शिष्य उनके पास थे। भक्त-मण्डली भी समीप ही विराजमान थी। उन फकीर ने अपने शिष्यों पर दृष्टि डाली। एक शिष्य जो लगभग पार हो चुका था, उन्होंने उसको बुलाया और कागजों का एक पुलिन्दा उसे देते हुए कहा– "हमारे परदादा के दादा गुरु ने यह धरोहर अपने शिष्य को दिया, उनसे हमारे दादा गुरुजी को मिला। उन्होंने अपने अन्तिम समय में इसे हमारे गुरुदेव को दिया था और गुरुदेव ने कृपा करके मुझे दिया। वही थाती मैं तुझे सौंपना चाहता हूँ।" शिष्य बोला– "आपका आशीर्वाद पर्याप्त है। इसकी क्या आवश्यकता है?"

झेन फकीर ने कहा– "कैसा मूर्ख है!" वह अपनी सत्रह-अठारह गुरु परम्परा तक गिन ले गये और कहा– "पूर्वजों की धरोहर है, इसे रख लो। जो उचित समझना, करना।" शिष्य ने प्रणाम करके कागजों का वह पुलिन्दा ले लिया और दहकते हुए धूने में डाल दिया। कागजों का पुलिन्दा जलने लगा, शिष्य हँसने लगा। गुरुजी भी बहुत हँसे और बताया– "इसमें कुछ भी नहीं था, केवल कागज थे। यह तुम्हारी परीक्षा थी। आज तुम इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। अब मैं इन शिष्यों का भार तुम्हें सौंपता हूँ।" वस्तुतः,

जब उतरि पुतरि भये पारा। तब सदगुरु कौन हमारा॥

जब भवसागर से पार हो ही गये तो क्या वहीं पड़े रहेंगे? फिर वहाँ पड़े रहने से कुछ मिलेगा क्या? ऐसा ही कथानक महाभारत का है। युद्ध समाप्त होने पर भगवान ने पूछा– "अर्जुन! हमने तुम्हें गीता सुनायी थी, वह क्या तुम्हें याद है?" अर्जुन ने कहा– "भगवन्! वह तो मैं भूल गया। आप ही मुझे याद दिला दें।" भगवान ने कहा– "अर्जुन! भूल तो मैं भी गया।" वास्तव में युद्ध जब पूर्ण हो गया, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की लड़ाई समाप्त हो गयी तो उस विद्या का भी उपयोग समाप्त हो जाता है; क्योंकि विद्या भी माया का ही एक अंग है।

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया।।

(मानस, 3/14/2)

मैं हूँ, मेरा है, तू है, तेरा है– बस इतना ही माया है। इस भावना ने यावन्मात्र जगत् को पराधीन कर रखा है। इस माया के दो भेद हैं–

तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ।।

(मानस, 3/14/4)

इसके दो भेद हैं– विद्या और अविद्या।

एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा।।

(मानस, 3/14/5)

इनमें से अविद्या अत्यन्त दुष्ट है। इससे आक्रान्त होकर, इससे विवश होकर जीव भवकूप में पड़ा है।

एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।।

(मानस, 3/14/6)

माया का ही दूसरा रूप है विद्या। यह सत्-रज–तम तीनों गुणों को नियन्त्रित करने में समर्थ है। किन्तु यह विद्या हमारे पास कब आयेगी? **'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।'** वह विद्या प्रभुप्रेरित है। जब तक भगवान हृदय से प्रेरणा न करें, प्रेरणा कर आपको अवगत न करायें कि प्रकृति के खोह-खंदक में तुम कहाँ तक हो, क्या अवरोध है, क्या निवारण है; तब तक विद्या

आपके पास आयी ही नहीं, आप विद्वान नहीं हैं। विद्या और अविद्या प्रकृति के ही दो पहलू हैं– एक भवसागर में डुबानेवाली, एक तारनेवाली– वह है हरिप्रेरित। किन्तु जब युद्ध का अन्तिम निष्कर्ष निकल गया, सजातीय-विजातीय दोनों प्रवृत्तियाँ विलीन हो गयीं, तब विद्या के द्वारा किसको नियन्त्रित करें?

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः। *(गीता, 12/17)*

वहाँ पर विद्या का भी कार्य पूर्ण हो जाता है। अर्जुन भी गीता भूल गये और भगवान भी भूल गये।

महाभारत के सन्दर्भ में एक कथानक है। जब युद्ध समाप्त हो गया, भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– "अर्जुन! अपना धनुष लेकर रथ से नीचे उतर जाओ। इस पर से जो भी अस्त्र-शस्त्र लेना है, थोड़ा-बहुत ले लो और सब कुछ इसी पर छोड़ दो क्योंकि अब मैं रथ को त्यागनेवाला हूँ।" ज्योंही अर्जुन रथ से उतरकर दूर खड़ा हुआ, भगवान ने रथ छोड़ा, पूरा का पूरा रथ सुलगने लगा, धाँय-धाँय जलने लगा – घोड़े भी, रथ भी! रथ के साथ सभी दिव्यास्त्र भी समाप्त हो गये। अर्जुन ने कहा– "भगवन्! यह क्या हो रहा है?" भगवान ने कहा– "अर्जुन! इस रथ के ऊपर कितने दिव्यास्त्रों का प्रहार हुआ है। यह तो कब का जला हुआ था। इस पर मैं बैठा था इसलिए यह चल रहा था। अब मैंने इसे त्याग दिया इसलिए यह जल गया। तुम आग और कोयले पर चल रहे थे। बस, मेरे हटते ही सुलग गया।" कठोपनिषद् में है–

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि ह्यानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ *(कठो.,1/3/3-4)*

शरीर एक रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है। जब तक इस मन की लगाम भगवान अपने हाथ में न ले लें और स्वयं संचालन न करें तब तक क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की लड़ाई में, प्रकृति और पुरुष के खोह-खंदक पाटने में साधक असफल ही रहता है। यों समझ लें कि भजन जागृत ही नहीं हुआ। किन्तु

उनके निर्देशन में, उनके संचालन से युद्ध का परिणाम निकल आया। अन्तिम शत्रु मोहरूपी दुर्योधन, उसकी भी जंघाएँ टूट गयीं। कोई लड़ने को बचा ही नहीं, तब सजातीय वृत्ति भी शान्त हो गयी, वह भी जल गयी। तत्क्षण यह रथ भी जल जाता है। शरीर के जन्म-मृत्यु का कारण भी जल जाता है। फिर तो जब तक शरीर की आयु शेष है, परहित के लिए होती है। उन महापुरुष का स्वयं के लिए कोई प्रयोजन नहीं होता। लड़ता तो साधक है लेकिन उसके द्वारा जो कुछ पार लग जाता है वह उन इष्टदेव की देन होती है। साधक तो केवल यंत्र है। **'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'** *(गीता, 11/33)*- वह तो निमित्त मात्र बनकर चलता भर है।

महाभारत का ही प्रसंग है। जब युद्ध समाप्त हो गया, जो जीवित बचे थे, धीरे-धीरे वे अपने पराक्रम को सबसे अधिक आँकने लगे। भीम सोच रहे थे- सबसे बड़ा बलशाली तो मैं हूँ; क्योंकि अठारह दिनों तक एक पल भी मेरी हुँकार बन्द नहीं हुई। अर्जुन मन ही मन सोचने लगा- यह सब मेरे धनुर्वेद के हस्तकौशल और दिव्यास्त्रों के कारण संभव हो सका। सात्यकि अपने में ही अँकड़ रहे थे। अधिकांश शूरवीर अपने को ही सर्वाधिक पराक्रमी मनवाना चाहते थे।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- "तुमलोग व्यर्थ ही आपस में निर्णय ढूँढ़ते हो। एक व्यक्ति ऐसा है जिसने सबका युद्ध देखा है। चलो उससे पूछ लिया जाय कि सर्वोपरि शूरवीर कौन है?" वे सभी उस विजय स्तम्भ के समीप चले गये जिसके ऊपर एक सिर रखा हुआ था। वह सिर घटोत्कच के पुत्र (भीम के पौत्र) का था। उस शिर से भगवान ने पूछा- "क्यों? तुमने युद्ध देखा?" उसने कहा- "हाँ, भगवन्! अच्छी तरह देखा।" पुनः पूछा गया- "बता सकते हो, इन योद्धाओं में सबसे अधिक शूरवीर कौन है?" उसने कहा- "कोई नहीं। अस्त्र-शस्त्र जो भी रहे हों, दिव्यास्त्र थे या ब्रह्मास्त्र- इन सभी अस्त्रों के आगे एक अदृश्य शक्ति चलती थी, वह पहले संहार कर देती थी, उसके पीछे निर्जीवों पर अस्त्र-शस्त्र गिरा करते थे। यह युद्ध उस अदृश्य सत्ता ने जीता है, अन्य किसी का कोई पराक्रम नहीं है।"

अर्जुन ने यह निर्णय स्वीकार कर लिया; क्योंकि कर्ण-वध या जयद्रथ-वध में वह अपनी क्षमता देख चुका था। उसे एहसास हो चुका था कि मैं तो मात्र यंत्र के समान हूँ, कर्त्ता-धर्त्ता तो प्रभु स्वयं हैं। वह तो सन्तुष्ट हो गया लेकिन भीम को यह आकलन पसन्द नहीं आया। उसने सोचा– मेरे पौत्र ने मेरे पराक्रम को ठीक से नहीं देखा। वह तुरन्त छाती फुलाकर, भुजाएँ ऐंठते हुए गदा लेकर सामने से निकला जिससे भर निगाह देख तो ले और अपने निर्णय पर पुनर्विचार कर ले किन्तु बर्बरीक भी शूरवीर था। चाहे दादा ही क्यों न हों, किसी की अकड़ सहन नहीं कर सकता था।

उसने कहा– ''हमारे दादाजी तो गदा लेकर व्यर्थ ही हूँ-हूँ करते रहे। इनकी गदा के आगे भी वही अदृश्य शक्ति चलती थी। वह हाथियों का संहार कर देती थी और उनकी लाशों के ऊपर इनकी गदा गिरा करती थी।'' भीम को क्रोध आ गया कि इसे तो बड़ों का सम्मान करना भी नहीं आता। यह मेरे पुरुषार्थ की खिल्ली उड़ा रहा है। उसने घुमाकर एक गदा मार दिया जिससे बर्बरीक की खोपड़ी चकनाचूर हो गयी।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– ''भीम! तुमने यह क्या कर डाला? युद्ध का परिणाम पूछने के लिए ही हमने इसे इस दशा में रखा था। अब परिणाम जान लिया तो मैं इसे जीवित करना चाहता था। अब बताओ मैं किस प्रकार इसे जीवित करूँ? तुमने तो खोपड़ी ही चूर्ण कर दी।'' भीम भी बहुत रोया क्योंकि पौत्र तो उसी का था। कहा गया है–

बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछिताय।
काम बिगारे आपना, जग में होय हँसाय।।

जो बिना विचारे कोई कार्य कर बैठता है, वह कार्य करने के पश्चात् जी भरकर पश्चाताप करता है। वह अपना कार्य तो बिगाड़ ही देता है, संसार में वह उपहास का पात्र भी बन जाता है। श्रीकृष्ण ने कहा– ''भीम! अब तुमलोगों के वंश में कोई सन्तान है भी तो नहीं! (उस समय तक परीक्षित का जन्म भी नहीं हुआ था।) भीम! आज तो तुमने अपने ही वंश का मूलोच्छेद कर डाला।'' भीम बहुत पछताये, क्षमायाचना की।

वास्तव में भगवत्पथ में मनुष्य एक यंत्र से अधिक कुछ भी नहीं है। अनुभवी सद्‌गुरु द्वारा जब आत्मा हृदय से जागृत हो जाती है, पूर्ण निवृत्ति दिला देनेवाली योग साधना उसी दिन से शुरु होती है। इसके पूर्व तो जैसा गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं–

माधव अस तुम्हारि यह माया।
सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय, दसा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोहजनित भव दारुन बिपति सतावै।।

(विनयपत्रिका, 116/2)

आप लाख कहो, लाख सुनो, लाख तरीकों से समझो, लाख समझाओ; जब तक वह अनुभव जागृत न हो, इष्ट हृदय से रथी होकर मार्गदर्शन न करें, योगक्षेम न करें तब तक आवागमन की असहनीय वेदना सताती ही रहेगी, पीछा करती ही रहेगी। इसका अन्य कोई उपाय है ही नहीं। अनुभव ईश्वर की अपौरुषेय वाणी के संचार का नाम है जो किसी सद्‌गुरु के द्वारा ही पथिकों के हृदय में जागृत हुआ करती है। भगवान साथ हैं तो साधक के पास सारा बल है और यदि वह साथ छोड़ दें तो साधक के पास कुछ भी नहीं रहता।

महाभारत का ही एक अन्य उदाहरण देखें! जीवन के अन्तिम क्षणों में भगवान श्रीकृष्ण को एक साधारण बहेलिये का बाण लग गया। जिन महापुरुष के ऊपर सृष्टि के तमाम दिव्यास्त्र गिरें, फिर भी उन्हें खरोंच तक नहीं आयी, वही भगवान मृग मारनेवाले एक आखेटक का बाण लगने से कराह रहे थे। वह एक बदला था जिसे उन्हें चुकाना था, किसी भक्त का गौरव रखना ही था, उसी में उस भक्त का उद्धार भी छिपा था।

युधिष्ठिर को इसकी सूचना मिली। उन्होंने अर्जुन से कहा– "श्रीकृष्ण कितना ही कहें, उनका वह बाण तुम मत निकालना अन्यथा वह हम सबका साथ छोड़कर अपने धाम को प्रस्थान कर जायेंगे। हमलोग अनाथ और अकेले पड़ जायेंगे। इससे उन्हें थोड़ी-बहुत पीड़ा हो सकती है किन्तु उनका जीवन तो बचा रहेगा।" अर्जुन उनके पास पहुँचा, देखा तो बोला– "प्रभो! यह महान संकट! यह हुआ कैसे?"

श्रीकृष्ण ने कहा– "अर्जुन! यह सब तुम बाद में पूछ लेना, इस बाण से मुझे बड़ा कष्ट है, इसे निकाल दो।" अर्जुन ने कहा– "नहीं गोविन्द, महाराज युधिष्ठिर ने इसके लिए मुझे मना कर रखा है।" श्रीकृष्ण ने कहा– "अर्जुन! हमें नहीं मालूम था कि तुम भी इतने कृतघ्न निकलोगे! अरे, हमने तुमलोगों को कितने संकटों से बचाया। लाक्षागृह के अग्निदाह से, युद्ध में कर्ण की विभीषिका से, जयद्रथ के समक्ष आत्मदाह से तुम्हारी रक्षा की। इस समय तो किसी से युद्ध भी नहीं है। तुम एक साधारण-सी कील भी नहीं निकाल सकते। हमें यह उम्मीद नहीं थी कि तुम्हारे जैसा मित्र भी इतना कृतघ्न होगा।"

अर्जुन आज्ञाकारी सेवक तो था ही, उसने तुरन्त ही वह बाण निकाल दिया। भगवान की आँखें घूमने लगीं। अर्जुन ने यह देखा तो पूछा– "भगवन्! यह क्या?" श्रीकृष्ण ने कहा– "अर्जुन! पृथ्वी पर मेरा समय पूर्ण हुआ। अब हमें जाना ही होगा।" कुछ देर तक तो अर्जुन विलाप करता रहा, फिर हाथ जोड़कर बोला– "सेवक के लिए कोई सेवा भगवन्!" श्रीकृष्ण ने कहा– "सेवा तो है किन्तु है बड़ी दुष्कर।" अर्जुन ने सोचा– गाण्डीवधारी अर्जुन के लिए दुष्कर क्या होता है? उसने कहा– "भगवन्! आप आज्ञा तो करें।"

श्रीकृष्ण ने कहा– "देखो, एक घड़ी में द्वारका समुद्र में डूब जायेगी इसलिए यहाँ की स्त्रियों और बच्चों को बाहर निकाल लो और उन्हें सुरक्षित हस्तिनापुर पहुँचाओ। थोड़ी भी लापरवाही किया तो उनसे भी हाथ धो बैठोगे। देखो, मेरे पृथ्वी छोड़ते ही संसार में चोर-लुटेरों का आतंक बढ़ जायेगा, कोई तुम्हें लूट न ले। बाल-बच्चों की रक्षा करना, कहीं कोई उनका अपहरण न कर ले।" अर्जुन ने सोचा– मृत्यु से पहले सबकी बुद्धि लड़खड़ा जाती है। लगता है प्रभु की बुद्धि भी हताश हो गयी है। गाण्डीवधारी अर्जुन का नाम सुनकर ही बड़े-बड़े शूरवीर रास्ता छोड़ देते हैं। अब सृष्टि में ऐसा है ही कौन जो मेरे मुकाबले में खड़ा हो।

अर्जुन स्त्रियों-बच्चों को लेकर ज्योंही द्वारिका से बाहर निकले, ज्वार आया और सात-सात मंजिल की इमारतें जल से आप्लावित हो उठीं। पानी कम हुआ ही नहीं। खिन्न अर्जुन स्त्रियों-बच्चों को लेकर जंगली रास्तों से

चले। कोल-भीलों की दृष्टि उन पर पड़ी। उन्होंने स्त्रियों को लूटना आरम्भ कर दिया, भगदड़ मच गयी। शोरगुल सुनकर अर्जुन ने देखा– लुटेरे सचमुच आ गये हैं। उसने धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर ललकारा– ''कौन है गाण्डीवधारी द्रोणशिष्य के सामने?'' कोल-भील अर्जुन का उपहास करते हुए स्त्रियों का अपहरण कर ही ले गये। अर्जुन ने बहुत प्रयत्न किया किन्तु न दिव्यास्त्र याद पड़े न नारायणास्त्र। समस्त अबलाओं में से वह केवल कुछ को ही बचा पाया।

कबिरा नर को क्या बड़ा, समय होत बलवान।
भीलन लूटी गोपिका, वही अर्जुन वही बान।।

मनुष्य में कोई बड़प्पन नहीं है। हाड़-मांस का यह शरीर कल बालक था, फुदकता हुआ, गुलफाम की तरह; जवानी आने पर शरीर में ऐंठन आयी, इतने में बाल पकने लगे, लड़खड़ाया और अन्त में आँखों में आँसू के सिवाय क्या बचता है? इसलिए समय बड़ा बलवान। भगवान यदि साथ हैं, उनका वरदहस्त आपके सिर पर है तो समय अनुकूल है। उनकी निगाह पलट गयी, वही कुसमय है। वही अर्जुन था, वही बाण थे; पास में नहीं था तो केवल उनका वरदहस्त नहीं था। भगवान को उसे अन्तिम शिक्षा देनी थी, उसे सम्हालना था। अर्जुन को अपनी क्षमता का गर्व हो चला था कि द्रोणशिष्य का नाम सुनकर कौन मेरे समक्ष टिकेगा। गाण्डीवधारी अर्जुन का नाम ही पर्याप्त है। किन्तु कोल-भीलों ने उसे कोई महत्व नहीं दिया। वास्तव में वह मनुष्य शुभ घड़ी और शुभ समय में होता है जिसके हृदय में भगवान के प्रति श्रद्धा और समर्पण है। वह भली प्रकार सुरक्षित है जिसके ऊपर उनका वरदहस्त है।

तदैव लगनं सुदिनं तदैव ताराबलं चन्द्रबलं तदैव।
विद्या बलं दैव बलं तदैव लक्ष्मीपतेऽङ्घ्र युगं स्मरामि।।

वही दिन शुभ है, वही लग्न शुभ है; दैवबल, ताराबल, सारा बल उसके साथ है; योग-नक्षत्र-ग्रह-वार सब उसके अनुकूल हैं, लक्ष्मीपति भगवान की जिसके ऊपर दृष्टि हो। भगवान श्रीकृष्ण की जब तक दृष्टि थी, अर्जुन अजेय था और जिस दिन भगवान ने उसे उसके भरोसे छोड़कर उसकी अन्तिम

परीक्षा ली, अर्जुन हतप्रभ रह गया। अनुकूल समय वह है जहाँ आत्मा साथ दे, कुसमय वहाँ है जहाँ आत्मा शत्रु हो।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! दुनिया में न कोई शत्रु है, न मित्र। आत्मा ही शत्रु और आत्मा ही मित्र है। किस प्रकार? भगवान बताते हैं कि जिन पुरुषों के द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीत ली गयी हैं, उनके लिए उन्हीं की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती हैं, परम कल्याण करनेवाली होती हैं और जिन पुरुषों द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गयीं, उनके लिए उन्हीं की आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतती हैं, उन्हें अधोगति और नीच योनियों में फेंकनेवाली होती हैं। (गीता, 6/6)

इन इन्द्रियों को आप अपने बल से नहीं जीत सकते। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण सुझाव देते हैं कि सारे धर्मों की चिन्ता छोड़ एकमात्र मेरी शरण हो जा। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा, तू मुझमें निवास करेगा। (गीता, 18/65-68) भगवान एक से सवा कभी नहीं हुआ। उस एक परमात्मा के प्रति दृढ़संकल्प हो जाओ। वही आपके लिए शुभ घड़ी है, शुभ दिन है, शुभ लक्षण है। उसके लिए कुछ अशुभ होता ही नहीं। जो समर्पित भक्त होते हैं उनकी असाध्य मनोकामनायें भी पूर्ण हो जाती हैं और जो अपने बुद्धिबल या टेक से चलते हैं, विफल मनोरथ हो जाते हैं। अरब-खरबपतियों के महल ढहते हुए दिखाई पड़ते हैं, चक्रवर्ती सम्राटों का अस्तित्व विलीन हो जाता है।

महाभारत का प्रसंग है। भीम और अर्जुन की असाध्य प्रतिज्ञाएँ भी भगवान श्रीकृष्ण की कृपा से पूर्ण हो गयीं। भीम ने प्रतिज्ञा कर लिया कि युद्ध में दुर्योधन की जंघा तोड़ूँगा, नहीं तो पूर्वजों को अपना मुँह नहीं दिखाऊँगा। उसकी दूसरी प्रतिज्ञा थी– युद्ध में कभी पीठ नहीं दिखाऊँगा। ऐसे अनेक अवसर आये जब इन प्रतिज्ञाओं का निर्वाह समस्या बन गयी।

एक बार दुर्योधन ने पितामह भीष्म पर बहुत आक्षेप लगाया कि "पितामह! आप पाण्डवों को मारना ही नहीं चाहते अन्यथा आपके समक्ष

पाण्डव हैं ही क्या?'' भीष्म ने कहा– ''मूर्ख! पाण्डव अबध्य हैं। वे भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा सुरक्षित हैं, उन्हें कोई नहीं मार सकता। मारे जाओगे तुमलोग। वैसे मैं पूरी शक्ति से युद्ध कर रहा हूँ, फिर भी तुमने लांछन बहुत लगाया है। जाओ, कल युद्ध समाप्त हो जायेगा, सेनासमेत पाण्डव समाप्त हो जायेंगे।''

दूसरे दिन भीष्म ने नारायणास्त्र का प्रहार कर दिया। वह ऐसा अस्त्र था जिसका जितना ही प्रतिरोध करो, उतना ही प्रज्वलित हो उठता था। शस्त्र दिखानेवाले का ही वह वध करता था और जो उसे पीठ दिखा देता था, अस्त्र-शस्त्र रख देता, उस पर शस्त्र का प्रभाव नहीं पड़ता था। उससे बचने का अन्य कोई उपाय न था।

भगवान श्रीकृष्ण ने देखा तो बोले– ''पाण्डवो! ध्यान से देखो। सामने वह कौन खड़े हैं?'' पाण्डवों ने कहा– ''पितामह।'' श्रीकृष्ण ने पूछा– ''कौन-कौन लड़ रहे हैं?'' पाण्डवों ने बताया– ''सारे कौरव तो खड़े होकर तमाशा देख रहे हैं, कोई लड़ ही नहीं रहा है। केवल पितामह शस्त्र लेकर खड़े हैं।'' भगवान ने कहा– ''वह तो हम सबके पूज्य हैं। उन्हीं की गोद में तुम सब पलकर बड़े हुए हो, उनसे क्या लड़ना! उनका सम्मान करो।'' ''प्रभु! कैसे सम्मान करें?'' ''उन्हें पीठ दिखा दो।'' सबने पीठ दिखा दिया किन्तु भीम ने ऐसा नहीं किया। नारायणास्त्र पाण्डव सेना की परिक्रमा करते हुए भीम की ओर बढ़ा। भीम लगे गदा भाँजने। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– ''भीम! पीठ दिखाओ।'' भीम ने कहा– ''केशव! अपना उपदेश अर्जुन को दीजिए। मेरी प्रतिज्ञा है, युद्ध में पीठ नहीं दिखाऊँगा। मैं अपनी गदा से इस अस्त्र को तोड़ दूँगा या वीरगति को प्राप्त कर लूँगा।''

ज्यों-ज्यों भीम गदा भाँजता गया, नारायणास्त्र प्रज्वलित होता गया। उसकी लपटों से भीम झुलसने लगे। भगवान ने देखा कि यह भोला-भाला भक्त संकट में है। वह दौड़कर गये और भीम को छाती से लगा लिया। एक ओर श्रीकृष्ण की पीठ तो दूसरी तरफ भीम की पीठ हो गयी। वह नारायणास्त्र भी उन दोनों की परिक्रमा कर लौट गया। उस दिन कोई मरा ही नहीं। असाध्य प्रतिज्ञा भी साध्य हो गयी। प्रतिज्ञा का आशय है मनोकामना! भीम की वह

मनोकामना पूरी हो गयी; किन्तु उसके अपने बल से नहीं अपितु उसे जिसका भरोसा था, उसके बल पर– **'जाके रथ पर केशो, ता कहँ कौन अँदेशो।'**

भीम ने दुर्योधन की जंघा तोड़ने की जब प्रतिज्ञा की थी, वह एक ताकतवर इंसान मात्र था, हाड़-मांस का पुतला! किन्तु जब युद्ध में मुकाबला हुआ तो वह वज्र बन चुका था। गान्धारी ने कहा– ''मेरे सभी पुत्र युद्ध में मारे गये। तुम अकेले बचे हो। स्नान कर मेरे पास वैसे ही आओ जैसे जन्म के समय थे। एकदम नग्न!'' भगवान ने देखा, कहाँ क्या हो रहा है? रात्रि में दुर्योधन स्नान करके नंग-धड़ंग चला आ रहा था। भगवान उसे मार्ग में ही मिल गये, बोले– ''युवराज! तुम्हारी यह दशा? युद्ध से घबड़ाकर तुम विक्षिप्त तो नहीं हो गये? तुम्हारा रूख महारानी गान्धारी के शिविर की ओर है। माँ की गोद में छिपने तो नहीं जा रहे हो?'' दुर्योधन ने कहा– ''हाँ, केशव! आज माताजी ने इसी रूप में मुझे आने का आदेश दिया है। वे मुझे आशीर्वाद देना चाहती हैं।''

श्रीकृष्ण ने कहा– ''मर्यादा तो तुम भरतवंशी न जाने कब से भूल चुके हो। तुम दुधमुँहे बच्चे नहीं हो। तुम्हारे लड़के हैं, नाती हैं, पनाती हैं। तुम शूरवीर हो। क्षुद्र प्राणों के लिए माताजी के सामने इस दशा में जाओगे? मर्यादा की हद हो गयी। जाओ, जाओ! माताजी को बहुत प्रतीक्षा नहीं करानी चाहिए।'' दुर्योधन ने सोचा– ''यह कह तो ठीक रहे हैं। भला इस दशा में माताजी के पास कैसे जाऊँ?'' उसने कमर में कोई वस्त्र लपेट लिया। गान्धारी ने ज्योंही अपनी आँखों की पट्टी खोलकर देखा, दुर्योधन का सारा शरीर वज्र हो गया। गान्धारी ने पूछा– ''यह कमर में क्या लपेट रखा है?'' उसने बताया– ''माताजी! मैं अब बड़ा हो गया हूँ, आपके सामने एकदम नग्न कैसे आता?'' गान्धारी ने दीर्घ निःश्वास लिया और बोली– ''यदि तुमने बड़ों की आज्ञा ही मान ली होती तो आज यह युद्ध न होता। जाओ बेटा! वस्त्रों से ढँका इतना हिस्सा जैसा का तैसा रह गया। मेरी दृष्टि तुम्हारे जिन अंगों पर पड़ी है, वे वज्र हो गये; किन्तु इतना कमजोर रह गया।'' दुर्योधन बोला– ''उसकी चिन्ता न करो माँ! गदा-युद्ध में कमर के नीचे प्रहार होता ही नहीं।''

व्यास सरोवर के तट पर दुर्योधन और भीम का गदा-युद्ध हुआ। थोड़ी देर तक दुर्योधन गदा लेकर लड़ता रहा किन्तु शीघ्र ही उसे आभास हुआ कि उसे तो चोट ही नहीं लग रही है। उसने गदा फेंक दिया और भीम का प्रहार कभी खोपड़ी पर, कभी उँगली पर तो कभी कन्धे पर झेलने लगा। अब वह वज्रकोटेड हो गया था। उसे पीटते-पीटते भीम थक गये, गिर-गिर उठने लगे। अर्जुन ने कहा– "भगवन्! दुर्योधन का पलड़ा भारी है।" भगवान ने कहा– "बनियों की भाषा मत बोलो अर्जुन! मझले भइया को उनकी प्रतिज्ञा याद दिला दो।" अर्जुन ने कहा– "प्रतिज्ञा तो जंघा तोड़ने की थी।" श्रीकृष्ण ने कहा– "हाँ, हाँ, वही याद दिलाओ।" अर्जुन ने कहा– "नहीं केशव! यह अपराध मुझसे नहीं होगा। गदा-युद्ध कमर से नीचे होता ही नहीं।" श्रीकृष्ण ने कहा– "तब ठीक है, युद्ध देखो।"

भगवान ने मन ही मन कहा कि भक्तों के लिए हमें क्या-क्या नहीं करना पड़ता। वह बोल पड़े– "वाह मझले भैया! गजब का वार है तुम्हारा।" हलधर इस युद्ध के निर्णायक थे। उन्होंने कहा– "कृष्ण! क्यों शोरगुल करते हो! युद्ध देखो, युद्ध।" श्रीकृष्ण ने कहा– "दाऊ भैया! जरा उधर तो देखो। मझले भैया का वह दाँव तो बड़ा ही सराहनीय है।" बलराम उधर देखने लगे। श्रीकृष्ण ने कहा– "हाँ मझले भैया!" ज्योंही भीम की दृष्टि श्रीकृष्ण की ओर गयी, उन्होंने जंघे पर मारने का संकेत किया। जाँघ पर प्रहार होते ही दुर्योधन धराशायी हो गया, भीम की प्रतिज्ञा पूरी हो गयी।

क्या वह प्रतिज्ञा पूरी हो पाती यदि भगवान बीच में न होते? इसलिए समर्पित भक्त ही सदा विजयी होता है, उसकी समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं। इसलिए आप सभी एक प्रभु का सुमिरन करो। भविष्य में आप जो माँगोगे, मिलेगा; और मोक्ष तो अतिरिक्त लाभ कें रूप में है ही क्योंकि ईश्वर-पथ में आरम्भ का नाश होता ही नहीं। और निवृत्ति के पश्चात् महापुरुषों की रहनी कैसी होती है, इसके सम्बन्ध में कबीर के एक भजन के माध्यम से बताने का प्रयास करेंगे।

कबीर ने चित्रण किया–

संतो! सहज समाधि भली।
गुरु परताप भई जा दिन ते, सुरत न अनत चली॥
संतो! सहज.....

आँख न मूँदूँ कान न रूधूँ, काया कष्ट न धारों।
उघरे नयना साहिब देखूँ, सुन्दर रूप निहारों॥
संतो! सहज.....

जहँ जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जो कुछ करउँ सो पूजा।
भीतर बाहर एकहिं देखा, भाव मिटा सब दूजा॥
संतो! सहज.....

शब्द निरंतर मनवा राता, मलिन वासना त्यागी।
सोवत जागत कबहुँ न बिसरै, ऐसन तारी लागी॥
संतो! सहज.....

कह कबीर यह उनमुनि रहनी, सोइ प्रगट करि गाई।
सुख दुख से एक परे परम सुख, ता सुख रहल समाई॥
संतो! सहज.....

कबीर एक महापुरुष थे जैसा कि अनादिकाल से होते चले आये हैं, जैसे– सप्तर्षि, सनक, सनन्दन, वाल्मीकि, व्यास, नारद, भगवान बुद्ध, भगवान महावीर....। उन्हीं में से कबीर भी एक थे। वह भी प्राप्तिवाले और उसी रहनीवाले महापुरुष थे। भगवत्प्राप्ति के सोपानों में एक उन्नत अवस्था है समाधि, जिसके लिए महर्षि पतंजलि योगदर्शन में कहते हैं–

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

(योगदर्शन, विभूतिपाद, 3)

साधक जिस लक्ष्य का चिन्तन करता है, वह लक्ष्यमात्र रह जाय, ध्येयमात्र रह जाय; चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाय, चित्त का स्वरूप लक्ष्यमात्र रह जाय– इस अवस्था का नाम है समाधि। इसके पश्चात् परम चेतन का साक्षात् और उसमें स्थिति मिलती है। इसके पश्चात् महापुरुष की जो रहनी होती है, वह है सहज समाधि। जो स्वयंसिद्ध है, **'विधि न बनाये**

हरि आप बनि आये', जो सहज है, उसमें लागलपेट नहीं, बनावटी कुछ भी नहीं। सन्त कबीर ने जब उस स्थिति का चित्रण किया तो उन्होंने निर्णय दिया– '**संतो! सहज समाधि भली।**'– संतो! जो सहज है, जो स्वयंसिद्ध है, अनादि है, एकरस है, कण-कण में व्याप्त है, उस परम तत्त्व परमात्मा के साथ जो समत्व प्राप्त हुआ है, यह स्थिति सर्वोपरि है, इसके आगे कुछ है ही नहीं। यह समाधि आपको मिली कैसे? इसे बताते हैं– '**गुरु परताप**'– गुरु की प्रभुता जब हृदय में प्रेरणा करने लगी।

इस प्रताप की प्रेरणा के अवसर साधक के जीवन में आते हैं। रामचरितमानस में उल्लेख है– अंगद भगवान राम का दूत बनकर घोर निशाचरों के बीच लंका में गये। अतिकाय, अकम्पन, सुररिपु, दुर्मुख, मेघनाद, कुम्भकर्ण इत्यादि भयंकर निशाचरों की मण्डली में अकेला अंगद। पहले तो अंगद ने शान्तिपूर्वक वार्ता की किन्तु रावण ने जब बार-बार भगवान राम को तपस्वी, नालायक कहते हुए अपमानित किया कि राम अयोग्य थे इसलिए पिता ने उनको घर से भगा दिया, जो एक औरत की रक्षा नहीं कर सके वह युद्ध क्या खाक लड़ेंगे? '**अंगद तुहीं बालि कर बालक।**' तुम्हारा गर्भ क्यों नहीं गिर गया। बालि मेरा मित्र था। तुम जैसे बालि के पुत्र हो, वैसे ही मेरे पुत्र हो। तुम मेरे पक्ष में आ जाओ, मैं तुम्हें राज्य दिलाऊँगा। राम तो एकदम अयोग्य और साधारण-सा मनुष्य है। जब रावण ने भगवान को सामान्य मनुष्य कहा, उस भक्त से सहन नहीं हुआ। पहले तो उन्होंने रावण को कुछ खरी-खोटी सुनायी–

राम मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी काम नदी पुनि गंगा।।

(मानस, 6/25/5)

रे मूर्ख बगड़ रावण! राम क्या साधारण मनुष्य हैं? गंगा क्या मात्र नदी है? काम क्या कोई धनुर्धारी योद्धा है?

सुनु मतिमंद लोक बैकुंठा। लाभ कि रघुपति भगति अकुंठा।।

(मानस, 6/25/8)

बैकुण्ठ क्या कोई नगरी बसी है जहाँ जाकर अपना स्थान आरक्षित करा लोगे? फिर उस भगत ने भगवान का थोड़ा ध्यान धरा तो,

समुझि राम प्रताप कपि कोपा। सभा माझ पन करि पद रोपा।।

(मानस, 6/33/8)

जब हृदय में भगवान का सन्देश मिल गया, प्रभु के प्रताप को जब अंगद ने समझा तो उसने प्रतिज्ञा करके अपना पद रोप दिया।

जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं राम सीता मैं हारी।।

(मानस, 6/33/3)

रे मूर्ख! तुमसे से कोई भी मेरे चरण को यदि खिसका देगा तो राम लौट जायेंगे, समझ लेना सीता को मैं हार गया। वाह रे सेवक! आया था सेवा करने और स्वामी की धर्मपत्नी, जगज्जननी सीता को ही दाँव पर लगा दिया। उन्होंने अपने बल पर यह सब नहीं किया, उन्हें हृदय में प्रभु का प्रताप जो मिल गया। उस प्रताप के बल पर उन्होंने कुपित होकर पाँव जमीन पर रख दिया। एक-एक कर योद्धा उसे उठाने का प्रयास करते, एँड़ी-चोटी का जोर लगाते और असफल होकर चुपचाप बैठ जाते–

कोटिन्ह मेघनाद सम सुभट उठे हरषाइ।
झपटहिं टरै न कपि चरन पुनि बैठहिं सिर नाइ।।

(मानस, 6/34-क)

मेघनाद के समान **'कोटिन्ह'**– करोड़ों योद्धा उठे, एक साथ उस बन्दर का चरण पकड़ा, उसे उठाकर फेंकना तो दूर की बात थी, उसे जमीन से तिल भर भी नहीं हिला सके। रावण के सारे योद्धाओं में सबसे बलशाली मेघनाद था, उसके समान करोड़ों योद्धा! सबने एक साथ चरण पकड़ा। क्या वह किसी बन्दर की साधारण-सी टँगरी थी? वास्तव में यह है मानस। यह किसी साधक के अन्तःकरण का चित्रण है।

भूमि न छाँड़त कपि चरन, देखत रिपु मद भाग।
कोटि बिघ्न ते संत कर, मन जिमि नीति न त्याग।।

(मानस, 6/34-ख)

वह किसी बन्दर की टँगरी नहीं थी। अनुरागरूपी अंगद। आज आप भजन करते हैं तो मन नहीं लगता। साल-दो साल भजन करने पर भी आप

शिकायत करते हैं कि मन नहीं लगता; क्योंकि जिस युक्ति से मन लगता है, उस युक्ति में आप कच्चे हैं। वह युक्ति क्या है?

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा।।
(मानस, 7/61/1)

आप करोड़ जप करें, तप करें, योग करें, वैराग्य करें किन्तु यदि अनुराग नामक योग्यता आपके पास नहीं है तो राम नहीं मिलते, मन नहीं लगता। राग माने आसक्ति। अनुराग माने इष्ट के अनुरूप लगाव। सबके ममत्व के धागों को आप समेटें और मन को इष्ट के चरणों में बाँध दें। इष्ट के अनुरूप राग, वृत्ति में प्रेम का प्रवाह– यही है अनुरागरूपी अंगद! आज मन नहीं लगता किन्तु अनुरागपूरित हृदय से जब चरणों में चित्त लगा तो कामरूपी मेघनाद, क्रोधरूपी कुंभकर्ण, मोहरूपी रावण की काममयी करोड़ों प्रवृत्तियाँ भी आपको विचलित नहीं कर पायेंगी। अनुरागपूरित हृदय से जब चरणों में चित्त लग जाता है, चरण हृदय में स्थायित्व ले लेते हैं उस समय जैसे दर्पण में अपना मुँह दिखाई देता है, ऐसे ही गुरु के, इष्ट के, भगवान के चरण दिखाई देने लगते हैं। फिर काममयी करोड़ों प्रवृत्तियाँ भी साधक को विचलित नहीं कर पातीं, मन भी लग जायेगा। लेकिन यह तभी सम्भव है जब प्रभु का प्रताप आपके हृदय में दिखाई पड़े।

'गुरु परताप भयो जा दिन ते'– सद्गुरु का सीधा प्रताप जब हृदय में आया, जब वह प्रताप हृदय में प्रेरणा करने लगा तो **'सुरत न अनत चली'**। सुरत मन की दृष्टि का नाम है। जैसे आप अभी यहाँ बैठे हैं। अकस्मात् आपको लगे कि तिजोरी की चाभियाँ हम टेबल पर ही भूल आये हैं, कहीं लड़के लाख-पचास हजार इधर-उधर न कर दें। फिर आपका मन नहीं लगेगा। यहाँ छत्तीसों राग बज रहे हों पर आपको तिजोरी और चाभी दिखाई देगी। आपके कान खुले हैं, फिर भी यहाँ न सुनाई देगा और आँखें खुली होने पर भी न यहाँ का कुछ दिखाई देगा। दिखाई देगी चाभी। वस्तु नहीं है और वस्तु का चित्र दिखाई देने लगे, मन की इसी दृष्टि का नाम सुरत है।

एक दूसरा उदाहरण लें। यहाँ आप दत्तचित्त होकर प्रवचन में बैठे हैं। कोई किसी के कान में धीरे से कह दे कि उसका लड़का छत से गिरा, बेहोश हालत में अस्पताल गया। अनुशासन या मर्यादावश वह भले ही यहाँ से न उठे लेकिन यहाँ का कुछ भी न दिखाई पड़ेगा, न सुनाई पड़ेगा बल्कि उस बालक का एक-एक रोम दिखाई पड़ेगा; उस बालक की बरौनी कैसी, उँगलियाँ कैसी, दन्तावली कैसी। जबकि वस्तु सामने नहीं है और वस्तु का नक्शा खींच लें, उस मानसिक दृष्टि का नाम सुरत है। इसी सुरत को संसार से समेटकर चिन्तन में लगाया जाता है। यह सुरत कभी लगती है तो कभी उखड़ जाती है किन्तु जब हृदय से सद्गुरु का निर्देशन मिलने लगता है, उनका समर्थन मिलने लगता है तो '**सुरत न अनत चली**'– सुरत स्वरूप में टिक ही गयी, अन्यत्र गयी ही नहीं। इस सहज समाधि में भजन कैसे होता है? आरम्भ में भजन करते समय लोग आँख मूँदते हैं, कोई कान बन्द कर लेता है, लेकिन उस सहज समाधि में भजन का स्तर कैसा होता है?– इस पर सन्त कबीर कहते हैं–

आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ, काया कष्ट न धारूँ।

न तो आँख ही बन्द करता हूँ, न कान ही रूँधता हूँ और न काया को ही तपाता हूँ कि रात दो बजे से ही उठकर भजन में बैठ जाओ, इतना जगो, इतना सोओ। तब करते क्या हैं? वह बताते हैं–

उघरे नयनन साहिब देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ।

जब सुरत टिक ही गयी तो '**सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देखि धरें धनु बाना॥**'– न बैकुंठ बैकुंठ के रूप में रह गया जिसकी हम कामना करें और न नरक नरक के रूप में रह जाता है बल्कि जहाँ भी दृष्टि पड़ी, अपने आराध्यदेव को ही खड़ा पाया। जब सुरत अन्य कुछ देखती ही नहीं तो आँख बन्दकर हम किससे बचें? कौन-सा विपरीत शब्द है जिससे अपनी रक्षा के लिए हम कान बन्द करें? पहले साधना में श्रम होता था, अब श्रम भी नहीं रहा; सहज स्थिति मिल गयी। अब तो '**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।**' *(ईशा०, 1)*

ईश्वर के दर्शन और उसमें प्रवेश के साथ सर्वत्र ईश्वरमयी दृष्टि आ जाती है, किञ्चित् भी जगत् है ही नहीं तो रक्षा फिर किससे करें? इसीलिए–

आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ, काया कष्ट न धारूँ।
उघरे नयनन साहब देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ।।

जहाँ भी दृष्टि पड़ी, प्रभु के ही रूप का संचार दीख पड़ा। पूज्य महाराजजी कहा करते थे– ''योगी कब भजन करता है इसे उसके पास में रहनेवाला भी नहीं जानता जब तक कि वह स्वयं न बता दे। तुमलोग सोचते हो मैं बातें करता हूँ किन्तु ऐसा है नहीं। मोर श्वास बाँस की तरह खड़ी है, वह सदैव स्थिर है। **'डोलत डिगै न बोलत बिसरे, अस उपदेस दृढ़ावै।'** मैं गले के ऊपर ही बातें किया करता हूँ।'' यह थी सहज समाधि! प्रश्न उठता है कि सहज समाधि में आप तीर्थ-व्रत-परिक्रमा इत्यादि कुछ करते भी हैं? कबीर कहते हैं–

जहँ जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जो कुछ करूँ सो पूजा।
भीतर बाहर एकहिं देखा, भाव मिटा सब दूजा।।

उसके साथ जिस क्षण समत्व मिला, जहाँ चला गया वही परिक्रमा, और जो कर डाला वही पूजा। भीतर हृदय में और बाहर जहाँ भी दृष्टि पड़ी, मगहर और काशी सर्वत्र उस इष्ट, एक ईश्वर का ही संचार देखा। दूसरो होने का भाव ही अविद्या माया है, जब उसका भाव ही मिट गया तो बचाव किससे करे?

महापुरुष जब दिवंगत हो जाते हैं, कालान्तर में उनकी क्रीड़ास्थलियाँ ही तीर्थ कहलाती हैं। सृष्टि में जितने भी तीर्थ हैं, महापुरुषों की देन हैं। उन्होंने जहाँ जन्म लिया, जैसे– ननकाना साहब; जहाँ तपस्या की, जैसे– सिमर शिखर; रामजी ने सेतु बाँधा तो वहाँ रामेश्वरम्; जिस चित्रकूट में उन्होंने तपस्या की वह भी तीर्थ; जहाँ-जहाँ उन्होंने उपदेश दिया, जहाँ परिनिर्वाण को प्राप्त हुए कालान्तर में वही तीर्थ कहलाये। जैसे– प्रयाग = पर और याग – **'प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी।'**– प्रकृष्ट यज्ञ की स्थली! यहाँ परम प्रभु का यज्ञ करनेवालों की युगों से कतार लगी है इसीलिए प्रयागराज तीर्थों का सम्राट

हो गया है। मानस में गोस्वामीजी ने संतों को चलता-फिरता प्रयाग कहा है। येरूसलम में एक पहाड़ी है। उस पहाड़ी पर मूसा का पहला मंदिर बना था, अब उस मंदिर के भग्नावशेष हैं। उससे एक किलोमीटर की दूरी पर ईसा ने जन्म लिया, उपदेश दिया, उनका चर्च है। उसी से एक किलोमीटर की दूरी पर मुहम्मद साहब ने शरीर त्यागा था, वहाँ से जन्नत को नसीब हुए, वहाँ एक मस्जिद है। तीनों सम्प्रदायों के अनुयायी हमारा तीर्थ-हमारा तीर्थ कहकर रात-दिन झगड़ते रहते हैं। इसीलिए संत कबीर कहते हैं–

मेरा गाया गायेगा तो तीन लोक भरमायेगा।
मेरा गाया गूथेगा वो तीन लोक तर जायेगा।।

महापुरुष का कथन दुहरा देने मात्र से स्थिति नहीं मिलती। सच्चा शिष्य वही है जो उस कथनी को आचरण में ढाले। शीलवान सन्तों की बड़ी महिमा है।

साधुनाम् दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः।
काले फलन्ति तीर्थानि सद्यः साधु समागमः।।

साधुओं का दर्शन पुण्य है, यह आपको पूर्णत्व की ओर ले जानेवाला है। **'तीर्थभूता ही साधवः'**– भूतकाल के साधु आज के तीर्थ हैं, तीर्थस्वरूप हैं। तीर्थ अवश्य फल देते हैं लेकिन **'काले फलन्ति तीर्थानि'**– तीर्थ काल पाकर फल देते हैं, जबकि **'सद्यः साधु समागमः'**– साधु का समागम तत्काल फल प्रदान करनेवाला होता है।

अब वे सन्त जो स्वरूप में स्थित, समाधिस्थ हैं, उन्हें तीर्थों का सहयोग नहीं चाहिए। वे जहाँ बैठ जायेंगे, वही तीर्थ हो जायेगा। इसलिए कबीर यहाँ कहते हैं– **'जहँ जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा'**– वही परिक्रमा हो गयी। वे करते क्या हैं?

बर तर कह हरि कथा प्रसंगा। आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा।।

(मानस, 7/56/7)

सुनहिं सकल मति बिमल मराला। बसहिं निरन्तर जे तेहिं ताला।।

(मानस, 7/56/9)

अब वह लोगों की शंकाओं का समाधान करने लग जाते हैं। जैसा कि मानस में है– गरुड़ के सन्देह का कहीं निवारण नहीं हुआ। वह नारद के पास पहुँचे, ब्रह्मा के पास पहुँचे, भगवान शिव के पास पहुँचे। भगवान शिव ने उन्हें कागभुसुण्डि आश्रम भेजा। आश्रम में प्रवेश के साथ ही उनकी शंकाओं का समाधान होने लगा। उन्होंने जब काकभुसुण्डि की वाणी सुनी, तदनुसार थोड़ा अभ्यास बढ़ा तो वह सदा-सदा के लिए शंकाओं से मुक्त हो गये। ऐसा महापुरुष इच्छा करें तो किसकी; माया तो दिखाई नहीं देती इसलिए महापुरुष जब भी कामना करते हैं तो कल्याण ही करते हैं। वे प्राप्ति के पश्चात् दुनिया में जब तक होते हैं, लोकहित के लिए ही होते हैं। इसलिए **'जो कुछ करूँ सो पूजा'**। इसके अतिरिक्त वह कुछ कर भी तो नहीं सकते, वह कल्याणस्वरूप हैं।

भीतर बाहर एकै देखा, भाव मिटा सब दूजा।

वह महापुरुष टिके कहाँ रहते हैं? वे जीवित हैं, उनकी वृत्तियों में वेग है तो उनकी वृत्ति कहाँ रहती है?– इस पर सन्त कबीर बताते हैं कि–

शब्द निरन्तर मनवा राता, मलिन वासना त्यागी।

शब्द ही ब्रह्म है। उन महापुरुष के समक्ष अपौरुषेय वाणी सदा उतरती रहती है। उस शब्द में उनका मन निरन्तर रँगा रहता है। इसके सिवाय सृष्टि में जो कुछ भी है, मल में डुबोनेवाला है इसलिए मलिन वासनाओं को वह त्याग देते हैं। जागृत अवस्था में वह देखते रहते हैं कि भगवान का निर्देशन क्या है, वह उसे पकड़ते हैं और उसी में अनुरक्त रहते हैं। सोते समय भी उनकी यही दशा रहती है कि प्रभु एक पल के लिए भी विस्मृत न हों।

जागत सोवत कबहुँ न बिसरे, ऐसी तारी लागी।

जागते-सोते उन्हें कभी विस्मृत होता ही नहीं। उनकी दृष्टि सदैव शब्द पर रहती है कि वह अपौरुषेय वाणी क्या है? उसे समझो और भगवान की इच्छा का पालन करो। अंत में कबीर निर्णय देते हैं–

कह कबीर यह उनमुनि रहनी, सोइ प्रगट करि गाई।

उनमनी अवस्था भजन के मस्ती की एक अवस्था है। यह एक नशा है, तन्द्रा जैसी अवस्था है। मन के अन्तराल में सुरति की डोर सदैव लगी रहती है, **'सोइ प्रगट करि गाई'**– हमने उसी रहनी का चित्रण किया है। उस रहनी में आप पाते क्या हो? पुत्र-पौत्र सांसारिक वैभव तो दिखाई नहीं देता! आपको मिलता क्या है?

सुख दुख से एक परे परम सुख, ता सुख रहा समाई।।
सन्तो! सहज समाधि भली।

संसार के संयोग-वियोग से होनेवाले सुख तथा संयोग-वियोग से होनेवाले दुःख से भी परे एक परमसुख की अवस्था है। उस उनमनी अवस्था में रहनेवाला महापुरुष उसी परम सुख, सहज सुख, शाश्वत सुख में निमग्न रहता है। संसार में आज किसी के पास इस बात का सुख है कि एक से दो फैक्ट्रियाँ हो गयीं। दो दिन बाद सूचना मिली कि फैक्ट्री में तो आग लग यी, फिर दुःख आ गया। बीमा से फैक्ट्री की क्षतिपूर्ति हो गयी तो किञ्चित् सन्तोष। यह सुख और दुःख तो जन्म और मृत्यु के बीच के पड़ाव हैं। परम सुख इससे परे है जैसा कि मानस में है–

प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी।।

(मानस, 7/71/7)

प्रकृति पार होने से भगवान पर कहलाते हैं। उस परम तत्त्व परमात्मा से संयुक्त होने से, जो सहज है, स्वयंसिद्ध है, सदा एकरस है, स्थिर है, उसके साथ जो समत्व प्राप्त हुआ, वह सर्वोपरि सुख है। भजन का परिणाम यही है। यहीं आकर मिलता है कि भजन में आनन्द है, सुख है। उस आनन्द की अनुभूति इसी स्तर पर आकर होती है। साधनाकाल में तो रात-दिन भजन, रात-दिन रगड़ करना होता है। उससे अन्त में एक ऐसा स्तर आता है कि परम सुख प्राप्त हो जाता है। ऐसा सुख जिसके पीछे दुःख नहीं है, ऐसी शान्ति जिसके पीछे अशान्ति नहीं है और ऐसा जीवन प्राप्त हो जाता है जिसके पीछे मृत्यु नहीं है।

श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव से उनके एक शिष्य ने प्रश्न किया– ''भगवन्! इतने बजे जगो, इतना ही सोओ, स्वल्पाहार करो, ऐसे बैठो– यह सब क्या है और यह कब तक चलेगा?'' श्रीपरमहंसदेव ने कहा– ''जब तक नदी उफान पर रहती है, मल्लाह दोहरा-तिहरा डाँड़-पतवार लगाकर बड़ी तत्परता से नाव खेते हैं; किन्तु वही नाव जब छिछले जल में आ जाती है, नाविक पतवार चलाना बन्द कर देते हैं, हल्का-सा पाल तान देते हैं, माझी गीत गाने लगते हैं, कोई मछली भूनकर खाने लगता है। इसी प्रकार जब तक कामिनी-कंचन की लहरे हैं, उखाड़-पछाड़ है, बेटा! ऐसा ही भजन करना पड़ेगा, रात-दिन एक करके लगना होगा और हल्के पानी में पहुँच जाओगे तब आनन्द ही आनन्द है। फिर तो '**भजन हमारा हरि करैं, हम पायो विश्राम।**', भगवान देखें, वह सँभालें। केवल पाल भर ताने रहना। तत्पश्चात् यह अवस्था है सहज समाधि की। यह परम सुख भजन का परिणाम है।''

भगवान श्रीकृष्ण ने जो स्थिति बतायी, वैदिक ऋषियों ने जो बताया, अनपढ़ अँगूठा छाप कबीर ने भी वही स्थिति बतायी कि भगवान एक, साधना-पद्धति एक, रास्ते में मिलनेवाली अनुभूतियाँ एक और परिणाम भी एक ही है। भक्त को चाहिए तो केवल टेक। आज श्रद्धा यहाँ है, कल वहाँ; आये दिन श्रद्धा बिखरती रहेगी तो यह स्थिति नहीं मिलेगी; क्योंकि,

व्यापकु एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनन्द रासी॥

(मानस, 1/22/6)

भगवान कण-कण में व्याप्त हैं, भगवान एक हैं, परम सत्य हैं, चेतन हैं, मूढ़ नहीं हैं। आप श्वास बाद में लेते हैं, विचार बाद में करते हैं, वह पहले से जानते हैं, चैतन्य हैं, आनन्द की राशि हैं। ऐसे प्रभु रहते कहाँ हैं?

अस प्रभु हृदयँ अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥

(मानस, 1/22/7)

ऐसे परम प्रभु सबके हृदय में निवास करते हैं। किसी उपाय से उन्हें वहाँ से हटा दो, ऐसा भी सम्भव नहीं है। आप आपरेशन कर डालो, कलेजा काटकर अलग रख दो; वह बचे रहेंगे, उन्हें खरोंच तक नहीं लगेगी। वे

अविकारी हैं, आपके विकारों से वे लिपायमान नहीं होते। वह द्रष्टा के रूप में हैं। प्रकाश में आप कसाईखाना खोल लें या भागवत पढ़ें, प्रकाश को आपके क्रियाकलाप से कुछ लेना-देना नहीं है। उसका काम है केवल प्रकाश देना।

हृदय में ऐसे प्रभु के होते हुए भी सारा जीव-जगत् दीन और दुःखी है। अब उस हृदय के प्रभु को पायें कैसे?

नाम निरूपन नाम जतन ते। सोउ प्रकटत जिमि मोल रतन ते।।

(मानस, 1/22/8)

पहले तो नाम का निरूपण करें कि नाम है किस प्रकार! निरूपण का अर्थ है विश्लेषण करना, निरुआरना, निराई करना। जिस प्रकार किसान खेत की निराई करता है, एक-एक पौधे को देखकर प्रतिकूल, विजातीय फसल को उखाड़ फेंकता है। खेत में केवल बोये हुए बीज की पौध रह जाती है, अनुकूल फसल वह रख लेता है। इसी का नाम है निराई करना। ठीक इसी प्रकार मन में नाम के अतिरिक्त अन्य संकल्प न रहने पाये। इस प्रकार जब समझ काम करने लगे तो नाम के लिए यत्न करो। **'राम नाम में अन्तर है, कहीं हीरा है, कहीं पत्थर है।'** यही नाम चार क्रमोन्नत विधियों से जपने में आता है। यह चारों सोपान यत्न करने से आते हैं। यत्न का अर्थ है प्रयास, अभ्यास। यह उन्नत अवस्था में अभ्यासजन्य है। नाम का निरूपण करें, अभ्यास करें, वह हृदयवाला प्रभु प्रकट हो जायेगा। ठीक उसी प्रकार जैसे रत्न की पहचान होने पर उसकी कीमत झलकने लगती है।

भगवान की पूजा में बहुत-कुछ सामग्री नहीं लगती। केवल मन, कर्म और वचन से श्रद्धा मात्र लगती है। गोस्वामीजी कहते हैं–

करम बचन मन छाड़ि छलु, जब लगि जनु न तुम्हार।
तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं, किएँ कोटि उपचार।।

(मानस, 2/107)

दूसरी बात, साधकों को संग-दोष से सदैव सावधान होना चाहिए। संग-दोष से साधक नष्ट हो जाता है। **'संग ते जती कुमंत्र ते राजा।'** *(मानस,*

3/20/10)- कुमंत्रणा से बड़े-बड़े राजाओं के तख्त पलट जाते हैं। जिस प्रकार कुसंग आपको नष्ट कर सकता है, उसी प्रकार आपका शुभ संग किसी का उद्धार भी कर सकता है।

नगर के बाहर शान्त-एकान्त में एक अच्छे भजनानन्दी महात्मा की कुटिया थी। एक रात चोरों ने नगरसेठ के यहाँ सेंध लगाया जिसमें उन्हें बहुमूल्य आभूषण, सोने-चाँदी के बर्तन हाथ लगे। रत्नजटित जेवर, हीरा-मोती, ढेर सारा सोना और चाँदी। चोर बहुत खुश हुए, बोले- ''जिन्दगी चोरी करते-करते बीत गयी, पचीसों बार राजकीय कर्मचारियों ने पकड़ा, पिटाई किया, गाँववालों की निगाह में हमलोग गिरे, सबने जलील किया, पेट कभी नहीं भरा। देखो न! आज कितना माल हाथ लगा है। यह तो चार-पाँच पीढ़ियों के खाने को पर्याप्त है।''

इतने में दूसरा चोर बोला- ''साथियो! अभी तो बारह भी नहीं बजे हैं। हमलोगों का असली समय तो बारह से दो बजे का होता है। चलो, एक हाथ और मारा जाय। आज साइत अच्छी है, योगिनी अनुकूल है तभी तो इतना माल मिला है।'' वस्तुतः धन से किसी का मन नहीं भरता बल्कि धन मिलने से धन की हवस और भी भड़क उठती है। शेष चोरों ने भी कहा- ''हाँ, हाँ! आज की शुरुआत बहुत अच्छी रही है। चलो, एक हाथ और मारा जाय।'' एक ने कहा- ''वह तो ठीक है लेकिन सिर पर यह बोझ अधिक है। एक मन से कम नहीं होगा। कोई साथी मिल जाता तो ठीक रहता।''

संयोग से वह महात्मा रात्रि के बारह बजे भजन करते हुए टहल रहे थे। चोरों ने उन्हें भी कोई चोर समझ आव न देखा ताव, अपने सिर की गठरी महात्मा के सिर पर रखकर कहा- ''क्या बौचट की तरह अभी तक घूम ही रहा है? यह गठरी ले चल। तुम्हें भी इसमें से हिस्सा मिलेगा।'' महात्मा ने गठरी ले ली, उनके पीछे चलने लगे।

आगे एक बड़ा-सा घर दिखाई पड़ा। चोरों ने पुनः सेंध लगायी और घर का पिछला दरवाजा खोल लिया। सब भीतर गये। चारों ओर घूमकर चोर भुनभुनाने लगे- बाहर से देखने में कितना बड़ा मकान किन्तु भीतर चूहों तक

के लिए भोजन का प्रबन्ध नहीं। कहीं पावभर आटा नहीं, चावल नहीं, नमक नहीं; इस घर में रहनेवाले आज न जाने क्या खाकर सोये होंगे!

महात्मा ने चोरों का भुनभुनाना सुन लिया। उन्होंने वह गठरी वहीं रख दी जो सिर पर थी। चोर बाहर निकले। पीछे-पीछे वह महात्मा भी चले। सभी नीरव एकान्त में मील-दो मील निकल गये; क्योंकि चोर माल का बँटवारा थोड़ा एकान्त में जाकर करते हैं। एक सूनसान स्थल पर पहुँचकर वे बोले– "यह दाँव तो खाली गया। चलो, पहले मिले हुए माल से इसे भी कुछ दे दिया जाय क्योंकि बेचारे ने गठरी तो ढोयी है।" वह नये साथी से बोले– "ला रे कहाँ है गठरी?"

महात्मा बोले– "भैया! उस घर की दशा देखकर हमारे तो आँसू छलक आये, हृदय द्रवित हो गया। इतनी दया लगी कि हमने गठरी तो उन्हीं के घर में छोड़ दी।" चोर बिगड़ खड़े हुए– "इतना अधिक माल हाथ से निकल गया, तू कैसा चोर है? कौन है तू? तू चोर है भी या नहीं?" महात्मा ने कहा– "भाई! हम चोरों का क्या; आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों सही, कभी तो लहान बैठेगा। उन बेचारों को तो चोरी करना भी नहीं आता। चलो, कुछ दिन तो ठीक से जी खा लेंगे।"

चोर लगे बिगड़कर बातें कहने और वह महात्मा उन्हें धीरे-धीरे सान्त्वना देने लगे। इसी बक-झक में सवेरा हो गया। चोरों में से एक ने उन महात्मा को पहचान लिया और बोला– "भागो यहाँ से! लगता है यह वह महात्मा हैं क्या? यह चोर नहीं हैं।" चोर भाग तो गये किन्तु चोरी बहुत बड़ी थी, दूसरे ही दिन वे पकड़ लिये गये। उनके हाथों में हथकड़ियाँ पड़ गयीं।

उन चोरों ने महात्माजी के पास संदेश भिजवाया– "गुरु महाराज! एक बार छूट जाते तो हम सभी आपकी कुटिया में झाड़ू लगाते। अब तो प्राण ही संकट में हैं।" वे छूट भी गये, झाड़ू भी लगाने लगे, उन महात्मा की शरण-सान्निध्य से अच्छे सन्त भी हो गये। **'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई।'** बाल्मीकि, अंगुलिमाल इत्यादि सत्संगति से सुधर गये। संगदोष यदि किसी को बिगाड़ सकता है तो सत्संगति से सुधार भी हो जाता है। यदि सच्ची शिक्षा

है तो कोई किसी को क्या खाक बिगाड़ेगा? इसलिए संगति सदैव अपनों से बड़ों और उन्नत व्यक्तियों की करनी चाहिए। दुराचारियों की संगत करो ही मत।

एक बात और! वे बच्चे भाग्यवान होते हैं, प्रातः उठते ही जिसके कण्ठ पर भगवान का नाम 'ॐ' अथवा 'राम' हो। आँख खुलते ही माताजी, पिताजी और गुरुजनों का चरण-स्पर्श करें।

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा।।

(मानस, 1/204/7)

यह हमारी संस्कृति है। रामजी भगवान ही थे। जड़ शरीरों को छूने की उन्हें क्या आवश्यकता थी। किन्तु वह मर्यादा पुरुषोत्तम थे, मर्यादा की स्थापना करने ही तो वह आये थे। उन्होंने भी गुरुजनों के वन्दन की मर्यादा का भली प्रकार पालन किया। उन्हें वनवास भी हुआ, वह राजकीय वैभव से वंचित कर दिये गये किन्तु गुरुजनों का आशीर्वाद फलीभूत हुआ, वह पुनः महाराजा हुए और आज भी वह पूज्य हैं। उनका चरित्रग्रन्थ रामायण ऐसा शास्त्र है जिसमें सींकभर प्रश्न की कहीं जगह नहीं है। कदाचित् कहीं प्रश्न खड़े हों तो प्रश्न वहाँ करना चाहिए जहाँ उत्तर मिलने की सम्भावना हो।

॥ ॐ श्रीगुरुदेव भगवान की जय ॥

घूँघट के पट खोल री

सन्त कबीर का यह भजन है– **'घूँघट के पट खोल री, तोहें पिया मिलेंगे।'** जिन्हें प्राप्त करने के बाद इस जीवात्मा की प्यास सदा-सदा के लिए मिट जाती है, उसके पश्चात् कुछ भी प्राप्त करने की इच्छा नहीं रहती, वे परम प्रभु तुम्हारे हृदय में ही रहते हैं। उन्हें तुम प्राप्त कर लोगे, केवल कपट का पर्दा खोलो। इसी आशय का यह भजन है।

ठीक यही सन्देश आदिशास्त्र श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का है। गीता के आरम्भ में भगवान ने अर्जुन से कुछ कहा ही नहीं; क्योंकि उस समय अर्जुन में कोई पात्रता ही नहीं थी। वह छोटी-छोटी बातों में भी भगवान से उलझ रहा था। उसने कहा– भगवन्! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच खड़ा कीजिए। मैं देख तो लूँ कि मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना है। ज्योंही अर्जुन ने देखा, वह काँपने लगा। उसने कहा– प्रभो! मैं युद्ध नहीं करूँगा। इसमें तो मुझे अपने ही परिवार से लड़ना है। ऐसा युद्ध करने से सनातन-धर्म नष्ट हो जायेगा; क्योंकि **'जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः'** *(गीता, 1/43)*

जातिधर्म और कुलधर्म सनातन है। इस युद्ध में वंशोच्छेद हो जाने से पिण्डोदक-क्रिया लुप्त हो जायेगी, पितर लोग गिर जायेंगे, कुल की स्त्रियाँ दूषित होंगी, वर्णसंकर पैदा होंगे जो कुल और कुलघातियों को नरक में ले जाने के लिए ही होते हैं। गोविन्द! हमलोग समझदार होकर भी ऐसा घोर पाप करने को उद्यत हुए हैं। क्यों न इस कुल-क्षय को बचाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। अर्जुन की दृष्टि में जाति सनातन-धर्म, कुलधर्म सनातन-धर्म, पिण्डोदक-क्रिया सनातन-धर्म था। इस पर भगवान ने हँसते हुए कहा–

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ *(गीता, 2/2)*

अर्जुन! तुम्हें इस विषम स्थल में यह अज्ञान किस हेतु से उत्पन्न हो गया? न यह कीर्ति बढ़ानेवाला है, न कल्याण करनेवाला है और न ही श्रेष्ठ पुरुषों ने भूलकर भी इसका आचरण किया है। यह अनार्यों का आचरण तुमने

कहाँ से सीख लिया? गीता आर्यसंहिता है। जो उस अविनाशी अस्तित्व का उपासक है, आर्य है। जिसकी वृत्ति उस अस्तित्व की ओर उन्मुख है, वह आर्यव्रती है। जो नश्वर की ओर भागता है, अनार्य है।

जब भगवान ने कहा कि जाति, कुल, पिण्डोदक-क्रिया इत्यादि अज्ञान है तो सत्य है क्या? अर्जुन ने सोचा– इसके आगे तो हम कुछ नहीं जानते। तब अर्जुन ने समर्पण कर दिया–

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ *(गीता, 2/7)*

प्रभो! यह अज्ञान है तो इसके आगे मुझे कुछ नहीं आता। सिद्ध है कि धर्म की राह में मैं विमूढ़चित्त हूँ। मुझे वह उपदेश कीजिए जिससे मैं परमश्रेय को प्राप्त हो जाऊँ। अर्जुन केवल श्रेय चाहता है, वस्तु नहीं। उसने कहा भी कि पृथ्वी के धनधान्यसम्पन्न अकण्टक साम्राज्य और देवताओं के स्वामीपन इन्द्रपद में भी मैं उस उपाय को नहीं देखता जो इन्द्रियों को सुखानेवाले मेरे शोक को दूर कर सके, मेरे क्षोभ को मिटा सके। इसके आगे कोई सत्य हो तो बतायें। प्रभो! यदि मैं कदाचित् उस उपदेश पर न चल सकूँ, लड़खड़ाऊँ तो मुझे साधिये, सम्हालिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ। स्पष्ट है कि गीता गुरु-शिष्य संवाद है।

भगवान ने समझाना आरम्भ किया, अर्जुन प्रश्न-परिप्रश्न करने लगा। लगभग चौबीस प्रश्न अर्जुन ने किये, अन्त में वह चुप हो गया। तब भगवान ने, जो प्रश्न अर्जुन नहीं कर सकता था, उस भक्त की क्षमता से बाहर की वस्तु थी, उन प्रश्नों को स्वयं बताया। उनमें एक प्रश्न था– जानते हो अर्जुन! ईश्वर कहाँ रहता है? उन्होंने कहा–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ *(गीता, 18/61)*

अर्जुन! ईश्वर सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के हृदय में निवास करता है। इतना समीप होने पर भी लोग उसे क्यों नहीं देख पाते? इस पर वह कहते हैं कि मायारूपी यंत्र में आरूढ़ होकर लोग भ्रमवश भटकते ही रहते हैं इसलिए नहीं जान पाते। प्रश्न उठता है कि जब ईश्वर हृदय में है तो हम शरण किसकी जायँ? अगले ही श्लोक में भगवान बताते हैं–

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। *(गीता, 18/62)*

अर्जुन! उस हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ। '**सर्वभावेन**'– सम्पूर्ण भावों से जाओ। ऐसा न हो कि थोड़ा-सा भाव संकटमोचन में, कुछ कमच्छा देवी में, थोड़ा पशुपतिनाथ में है। हम तो रुपये में बारह आना लीक हो गये, हमारा भाव यत्र-तत्र बिखर गया। हृदयस्थित ईश्वर के लिए केवल पचीस प्रतिशत बचा। इतने से कल्याण नहीं होगा। हमने समर्पण ही कब किया था? भगवान जानते हैं कि यह कितना प्रतिशत मुझसे जुड़ा है, इसलिए सम्पूर्ण भावों से, पूरे मनोयोग से उस हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ। मान लें, हमने सारी मान्यताएँ तोड़ीं, हृदयस्थित ईश्वर की शरण चले ही गये तो उससे लाभ क्या होगा? भगवान कहते हैं– उसकी कृपाप्रसाद से तुम परम शान्ति प्राप्त कर लोगे। इतना ही नहीं, '**स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्**'– उस स्थान को पा जाओगे जो शाश्वत है। तुम्हारा जीवन रहेगा और तुम्हारा निवास-स्थान रहेगा। भगवान अविनाशी हैं अतः तुम्हारा भी जीवन अविनाशी रहेगा; तुम अनन्त जीवन, शाश्वत शान्ति प्राप्त कर लोगे। इस प्रकार गीता के अनुसार ईश्वर का निवास हृदय में है।

रामचरितमानस के अनुसार भी ईश्वर का निवास हृदय है–

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्।।

(बालकाण्ड, मंगलाचरण, श्लोक 2)

मैं उन भवानी और शंकर की वन्दना करता हूँ जो श्रद्धा और विश्वास के रूप हैं। हमें वहाँ श्रद्धा स्थिर करनी है, उन पर विश्वास करना है। उनके

बिना सिद्धजन भी हृदय में स्थित ईश्वर को नहीं पहचान पाते। साधारण लोगों की कौन कहे, सिद्धकोटि में पहुँचे हुए लोग भी, जिनके लिए केवल थोड़ी-सी दूरी रह गयी, वह भी पकड़ नहीं पाते, पहचान नहीं पाते। शंकर अर्थात् शंका अरि स शंकर– जो शंकाओं से अतीत महापुरुष हैं, शिवस्वरूप हैं; **'शंकरः शं तनोतु मे'** *(मानस, लंकाकाण्ड, मंगलाचरण)*– जो कल्याणस्वरूप कैवल्यपदप्राप्त सद्गुरु हैं, उनकी शरण जाओ। उनकी कृपा के बिना तुम हृदयस्थ ईश्वर को नहीं पा सकते। इस प्रकार संत तुलसीदास का ईश्वर हृदय में रहता है। वैदिककाल के हर महापुरुष ने जब भी उसे प्राप्त किया तो हृदय-देश में! अनुभवी महापुरुष, भगवान के निर्देशन पर चलनेवाला पथिक इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ कह ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान एक, उनकी विभूतियाँ एक, स्थिति एक! वह एक से सवा कभी हुआ नहीं। **'राम न देखेउँ आन'** *(मानस, 7/81-क)* इसलिए दूसरा कोई कहे भी तो क्या? पढ़ा-लिखा न होने पर भी संत कबीर अनुभवी महापुरुष थे। उन्होंने भी भगवान को पाया तो हृदय में। साधकों, पथिकों और अनुरागी भाविकों को उन्होंने बताया कि भगवान को पाने में कठिनाई क्या है। इसी आशय का उनका यह भजन है–

घूँघट के पट खोल री, तोहे पिया मिलेंगे।
घट-घट रमता राम रमैया, कटुक बचन मत बोल री। तोहे......
धन यौवन का गरब न कीजै, झूठा पचरँग चोल री। तोहे......
सुन्न महल में दीप जलाकर, आसन से मत डोल री। तोहे......
जोग जुगुति सों रंग-महल में, पिया पायो अनमोल री। तोहे......
कहत कबीर आनन्द भयो है, अनहद बाजत ढोल री। तोहे......

आप स्त्री हों चाहे पुरुष, शरीर भजन नहीं करता। शरीर तो रहने का मकान है, वस्त्र है। मकान या वस्त्र स्त्री-पुरुष नहीं होता। भजन आपसे हो या माताओं से, जब कभी किसी से भजन हुआ है उनमें एक इष्टोन्मुखी लगन जागृत होती है जो भजन करा लेती है। लौरूपी लड़की! यह नारीसंज्ञक है इसलिए सन्त कबीर इस पद में उसी लौरूपी लड़की को, अन्तर्मन को सम्बोधित करते हैं। अनादि वैदिककाल से माता अनुसुइया, माता मदालसा, सप्तर्षि, सनकादि

ऋषि, महर्षि वशिष्ठ, विश्वामित्र, वाल्मिकी इत्यादि से लेकर अद्यावधि कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, हमारे गुरु महाराज (परमानन्द परमहंसजी) तक जब कभी किसी से भजन पार लगा है, इष्टोन्मुखी वृत्ति जागृत हुई, वही भजन कराती है। हम सबकी लगन भी लग जायेगी जब मन निर्मल हो जाय। रामचरितमानस में गोस्वामीजी भगवान के स्वभाव का वर्णन करते हैं–

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

(मानस, 5/43/5)

निर्मल मनवाला जन ही मुझे प्राप्त करता है। मुझे छल-छद्म-कपट अच्छा नहीं लगता। फिर भी जीव छल-छद्म करता ही है; क्योंकि उसमें विगत जन्मों के संस्कार भरे पड़े हैं, छल-कपट इसका पुराना अभ्यास रहा है। जब तक अन्तिम संस्कार नहीं मिट जाते, तब तक यह कपट पीछा करता है।

परम पावन अवस्था में होने पर भी सती ने भगवान शंकर से कपट किया। भोलेनाथ ने दण्डकारण्य में निवास करनेवाले महर्षि अगस्त्य के यहाँ रामकथा का श्रवण किया, महर्षि के आग्रह पर हरिभक्ति का उपदेश देकर लौट रहे थे। सतीजी उनके साथ ही थीं। उस समय भगवान राम वनवास काल में दण्डकारण्य में ही थे। भोलेनाथ की उन पर दृष्टि पड़ गयी किन्तु कुसमय जानकर उन्होंने उनके समीप जाना उचित नहीं समझा। उन्होंने '**जय सच्चिदानन्द जग पावन**' *(मानस, 1/49/3)* कहते हुए दूर से ही भगवान को प्रणाम किया और उनके प्रेम में मग्न हो गये। सती को बड़ी चिन्ता हुई–

संकरु जगत बंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा।।

तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा।।

(मानस, 1/49/7)

उन्होंने एक साधारण राजा के लड़के को, जो नारी-वियोग में विकल है, सच्चिदानन्द कहकर प्रणाम किया। भवानी ने कहा तो कुछ नहीं, किन्तु सन्देह तो हो ही गया। भोलेनाथ अन्तर्यामी थे। प्रियतमा को उधेड़बुन में देख उन्होंने कहा– "सती! तुम्हें इस प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए।" सती

ने कहा– ''नहीं भगवन्! यह लगता तो राजा का लड़का जैसा ही है।'' शंकर ने कहा– ''जाकर परीक्षा ले लो।'' सती ने सोचा– यह 'हाय सीते, हाय मृगलोचनी' की रट लगा रहे हैं, अतः उन्होंने तुरन्त सीता का वेष बनाया और उसी रास्ते पर आने लगीं जिधर राम जा रहे थे। लक्ष्मण ने उन्हें पहचान लिया– **'लछिमन दीख उमाकृत बेषा।'** *(मानस, 1/52/1)* लक्ष्मण ने सीता का वेष बनाये हुए उमा को देखा तो चकित हो गये कि यह क्या! प्रभु तो जानते ही हैं, मैं क्यों बोलूँ! भगवान की उन पर दृष्टि पड़ी तो सती को हाथ जोड़कर प्रणाम किया और पिता के नामसहित अपना परिचय दिया। वह बोले– ''मातेश्वरी! आप इस घोर जंगल में अकेले कहाँ विचरण कर रही हैं। भगवान चन्द्रमौलि कहाँ हैं?'' सती संकोच में पड़ गयीं। देखा, यह तो सचमुच सर्वज्ञ हैं, भगवान हैं। वह लौट पड़ीं, कुछ बोली ही नहीं। भगवान ने देखा, सती को कुछ कष्ट हुआ है अतएव अपनी किञ्चित् महिमा भी दिखा दिया। सती जिस रास्ते से जा रही थीं, राम-लक्ष्मण-सीता उधर से ही आते दिखायी पड़े। उनसे सामना न हो इसलिए सती दूसरी ओर घूम गयीं, उधर से भी प्रभु आ रहे थे। पूरब-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण चारो ओर प्रभु विराजमान थे। सती आँखें बन्द कर बैठ गयीं तो भगवान हृदय में दिखायी पड़े। अगणित ब्रह्मा-विष्णु-शिव, उमा-रमा-सरस्वती, असंख्य लोक-लोकान्तर दिखायी पड़े, सब भिन्न-भिन्न अवस्था में दिखायी पड़े किन्तु **'राम रूप दूसर नहिं देखा।'** *(मानस, 1/54/3)*– भगवान दूसरे प्रकार के नहीं थे; क्योंकि प्रभु ही एक ऐसी सत्ता हैं जिनमें परिवर्तन नहीं होता। सती ने आँखें खोलकर देखा, वह दृश्य समाप्त हो गया; वही जंगल का जंगल!

सती ने विचार किया कि शिव का कहना न मानकर मैंने बड़ी भूल की है, अब उन्हें क्या उत्तर दूँ? इतने में भोलेनाथ ने पूछ ही लिया कि ''तुमने किस प्रकार परीक्षा ली?'' सती ने तथ्य को छिपाते हुए कहा– ''भगवन्! हमने तो परीक्षा ली ही नहीं, बस आपकी ही तरह उन्हें प्रणाम कर लिया।'' भोलेनाथ ने सोचा– यह इतने तपाक से गयी और कहती है कुछ किया ही नहीं, कोई रहस्य तो है।

तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सबु जाना।।

(मानस, 1/55/4)

सती ने जो कुछ किया था, सारा चरित्र भोलेनाथ के सामने आ गया। उन्होंने तुरन्त सती का परित्याग कर दिया। **'सतीं कीन्ह सीता कर बेषा।'** ***(मानस, 1/55/7)*** सती ने जगज्जननी माता का स्वरूप धारण किया। अब उन्हें पत्नीरूप में स्वीकार करना पाप होगा, इसलिए–

एहिं तन सतिहि भेट मोहि नाहीं। सिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं।।

(मानस, 1/56/2)

मन में संकल्प करना था कि आकाशवाणी हुई कि आपके अतिरिक्त इतना सुदृढ़ प्रण भला कौन कर सकता है! सती ने बहुत पूछा, किन्तु शिव ने बताया नहीं। उनके व्यवहार से ही सती ने समझ लिया कि इन्होंने मुझे त्याग दिया है यद्यपि उदारतावश मेरा अपराध कहने में संकोच कर रहे हैं। जरा-सा झूठ बोलने का परिणाम सती को अग्निकुण्ड में जलना पड़ा। सती-कोटि तक पहुँची हुई अमलात्माओं में भी हठात् कपट आ ही जाता है। नारद ने भी ऐसा ही छिपाव किया था–

लच्छन सब बिचारि उर राखे। कछुक बनाइ भूप सन भाखे।।

(मानस, 1/130/5)

यही कबीर के शब्दों में 'घूँघट' है। घूँघट माने पर्दा, घूँघट माने आवरण! यह ऐसा आवरण है जिसे जीव स्वयं ही बनाता है, स्वयं अपनी दृष्टि और स्वरूप को आच्छादित कर लेता है जिससे सामने ईश्वर हो या पहाड़; कुछ भी दिखाई नहीं देता। जीवात्मा ने ही स्वेच्छा से इसे डाल रखा है इसीलिए कबीर अपने अन्तर्मन को लौरूपी लड़की को घूँघट का पट खोलने के लिए समझाते हैं–

घूँघट के पट खोल री, तोहें पिया मिलेंगे।

घट कहते हैं हृदय को। लेकिन हृदय में माया के, मल-आवरण-विक्षेप के पर्दे पड़े हैं, जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों की रील पड़ी है, उस परदे को खोलो, तुम्हें प्रियतम का साक्षात् होगा।

सन्त कबीर ने अपने आराध्यदेव को साईं, प्रियतम, भरतार, पति या पीव कहकर सम्बोधित किया जिन्हें प्राप्त कर लेने के पश्चात् इस जीवात्मा की प्यास सदा-सदा के लिए मिट जाती है, कुछ भी पाने की इच्छा नहीं रह जाती। **'जेहि जानें जग जाइ हेराई।'** *(मानस, 1/111/2)*– जगत् तो खो जाता है फिर माँगने लायक बचा ही क्या? ईश्वर ही बचा! आगे कोई सत्ता ही नहीं तो ढूँढ़ें किसे? उस समय यह आत्मा पूर्ण तृप्त, पूर्ण स्थितिवाली हो जाती है। जीव की प्यास मिट जाती है इसलिए पिया कहकर सम्बोधित किया। साईं का आशय स्वामी, मालिक होता ही है। प्रिय उत्तम से प्रियतम! प्रीति के सर्वोपरि आश्रय ईश्वर हैं। वही एक शाश्वत हैं, सार हैं। उनसे सम्बन्ध जुड़ जाने के बाद फिर कभी उनसे विछोह नहीं होता। संसार से प्रेम और विछोह तो होता ही रहता है किन्तु ईश्वर-पथ में बीज का नाश नहीं है। अर्जुन! इसका स्वल्प अभ्यास भी जन्म-मृत्यु के महान भय से उद्धार करनेवाला होता है। यदि आपने इस जन्म में इस पथ पर दो कदम भी स्वाँस के रहते-रहते रख दिया तो अगले जन्म में तीसरा ही कदम रखेंगे और दो-चार जन्मों के अन्तराल में वहीं पहुँच जायँगे जिसका नाम परम गति है, परम धाम है। अतः सर्वोपरि प्रेमास्पद भगवान ही हैं। उनके लिए टेक सुदृढ़, संयम सुदृढ़ हो; भगवान से श्रद्धा की डोर न टूटे, लव लग जाय।

इसी प्रकार पति शब्द भी है। पत कहते हैं इज्जत को, मर्यादा को। **'मेरी पत राखो गिरधारी'**– भगवन्! मेरी पत रख लें। आज किसी को दो खरी-खोटी सुनाओ, उसका चेहरा लटक जाता है, इज्जत चली गयी। शादी-विवाह में लड़कीवालों ने कहा– मोटर सायकल देंगे! नहीं दे सका तो समधी साहब की गर्दन लटक गयी। कहीं बारात का भव्य स्वागत हुआ, कन्या पक्ष ने मारुति पकड़ा दिया तो इज्जत चौगुनी हो गयी। और जब आयु के दिन पूरे हो गये, शरीर छूट गया तो यहाँ की इज्जत धरी की धरी रह गयी।

कबिरा अपनी नौबत, दिन दस लेहु बजाइ।
सोइ पुर पाटन सो गली, बहुरि न देखा आइ॥

मृत्यु के पश्चात् कोई लौटकर अपनी अर्जित मान-प्रतिष्ठा, पुत्र-पौत्रादि देखने नहीं आता। यह जीवन जन्म और मृत्यु के बीच का एक पड़ाव है किन्तु आत्मा अविनाशी, शाश्वत, परमतत्त्व है, निर्लेप और निर्दोष है। जो आपका छिपा हुआ स्वरूप है, ऐसे निर्दोष स्वरूप के होते हुए भी बारम्बार अनन्त योनियों का भ्रमण! इस दयनीय दशा से जीव को उबारकर उसे शाश्वत, सम-स्थिति प्रदान कर देने में, उसे मर्यादित स्वरूप में प्रतिष्ठित कर देने में यदि कोई समर्थ है तो एकमात्र भगवान हैं इसलिए आराध्यदेव को सन्त कबीर ने पत रखनेवाला पति कहकर सम्बोधित किया। कालान्तर में लोगों ने इस पावन शब्द को लोकजीवन में पति-पत्नी के रूप में ले लिया कि इस आदर्श शब्द के बहाने भगवान का स्मरण बना रहे।

माता मीरा के पति राणा भोजराज का जब स्वर्गवास हुआ तो कुल की मर्यादा को लेकर चिन्तित रनिवास की महिलाओं ने सोचा– अब तो मीरा पति की चिता पर जल जायेगी। ईश्वर ने सुनवाई तो कर लिया! देखो न, यह साधारण लोगों के बीच जाकर भजन-कीर्तन करती है, राज-परिवार का सम्मान इसने कम कर दिया। हमारा सम्मान इसने घटा दिया। उन्होंने कहा– "महारानी मीरा! चलिए, अब जलकर सती हो जाइये।" मीरा ने पूछा– "क्यों?" उन्होंने बताया– "आपका पति मर गया है।" मीरा ने कहा–

ऐसे पति को क्यों बरूँ, जो जनमे मरि जाय।
मीरा अविनाशी बरे, सुहाग अमर होइ जाय॥

भला ऐसे पति का हमने वरण ही कब किया था जो जन्मता और मरता हो। मीरा ने तो उस अविनाशी का वरण किया है। मेरा सुहाग अक्षुण्ण है, सदा अचल है। आपके वह पति रहते कहाँ हैं? मीरा ने कहा–

औरों के पिया परदेस बसत हैं, लिखि लिखि भेजत पाती।
मेरो पिया मेरे हिय में बसत हैं, ना कहुँ आती न जाती॥

दूसरों के पिया परदेस चले जाते हैं तो चिट्ठी-पत्री से सम्पर्क साधते रहते हैं, हमारे पति तो हमारे हृदय के अन्तराल में निवास करते हैं। हमें न

कहीं जाना है, न आना है। **'राणाजी, मैं तो गिरिधर रँगवा राती।'**– मैं उस गिरिधर के रँग में रंग गयी हूँ। अब तक आपने जो उपद्रव किया, क्षम्य था किन्तु अब मैं क्षमा कर भी दूँगी तो भगवान आपको क्षमा नहीं करेंगे। राणा भी इस चेतावनी को समझ गये; क्योंकि मीरा को जहर पिलाकर, शूली की शैया पर लिटाकर, सर्पों को भेजकर, तोप से मन्दिर उड़ाकर – सब कुछ कर थक-हार चुके थे। वह जान गये थे कि इसके पीछे इसका कोई अदृश्य रूप से रक्षक अवश्य है। इसके पश्चात् उन्होंने भी मीरा को परेशान नहीं किया, सादर नमन किया। अस्तु, पति परमात्मा का परिचायक है।

पति शब्द का ऐसा ही प्रयोग संत शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास के साहित्य में भी मिलता है–

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

(मानस, 3/10/21)

ऐसा अभिमान भूलकर भी न मिटे कि मैं सेवक हूँ और भगवान मेरे पति हैं। सुतीक्ष्ण क्या स्त्री थे? वास्तव में पति शब्द परमात्मा का परिचायक है।

रामचरितमानस का ही प्रसंग है। वनवासी राम और लक्ष्मण को ऋष्यमूक पर्वत की तलहटी में देखकर सुग्रीव ने घबड़ाकर हनुमान से कहा– "दो शूरवीर धनुर्धर दिखायी दे रहे हैं। जाकर पता करो, यह कौन हैं और यहाँ क्यों आ रहे हैं? भैया बालि का मन मेरे प्रति मैला है। उन्होंने मेरी हत्या करने के लिए इन्हें भेज तो नहीं दिया?" हनुमान ने कहा– "राजन! आप निश्चिन्त रहें, मैं अभी देखता हूँ।" उन्होंने ब्राह्मण का वेष बनाया और घूमकर राम और लक्ष्मण के सामने खड़े हो गये और बोले– "स्वागत है आपलोगों का! आपकी दिव्य आभा देखते ही बनती है। इस घोर जंगल में आपलोग किसलिए भ्रमण कर रहे हैं। आप हैं कौन? क्या आप ब्रह्मा, विष्णु और महेश में से कोई हैं, नर या नारायण अथवा साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं?" वह लगे धारा-प्रवाह शुद्ध संस्कृत में वार्तालाप करने! भगवान राम भी मन बहलाने लगे। कुछ ही देर में हनुमान को आभास होने लगा कि जिनकी प्रतीक्षा में मैं इस पहाड़ी पर पड़ा हूँ, वह प्रभु आ गये। उनके चरणों में साष्टांग प्रणिपात करते हुए हनुमान

बोले– "प्रभो! सेवक को बड़ी देर में पहचाना!" भगवान ने हनुमान को तुरन्त उठाया, गले लगाया और बोले–

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।।

(मानस, 4/2/7)

"हनुमान! तुम चिन्ता न करो। तुम मुझे लक्ष्मण से भी दोगुना अधिक प्रिय हो।" इतना सुनते ही–

देखि पवनसुत पति अनुकूला। हृदयँ हरष बीती सब सूला।।

(मानस, 4/3/1)

हनुमान ने जब अपने पति को अनुकूल पाया तो उनका हृदय हर्षित हो गया, सारा दुःख दूर हो गया। क्यों! हनुमान क्या स्त्री थे? वह वानर-जातीय पुरुष थे, राजकुँवर थे, अखण्ड बाल ब्रह्मचारी थे। सांसारिक पति-पत्नी के सम्बन्धों से वह परे थे। वास्तव में पति का अर्थ है स्वामी, परमात्मा! उन्होंने उन परम प्रभु को अनुकूल समझा। उनका सारा दुःख दूर हो गया। यह परमात्मा का ही एक पवित्र नाम है। यही आशय कबीर का भी है कि **'घूँघट के पट खोल री, तोहें पीव मिलेंगे।'**। जिन्हें प्राप्त करने के साथ ही इस जीवात्मा की प्यास सदा के लिए तृप्त हो जाती है, तुम उन्हें प्राप्त कर लोगे, पहले अन्तःकरण के परदे को हटाओ। पूज्य महाराजजी कहते थे– "गुरु और भगवान के सामने जो हृदय में हो, वही जुबान पर भी हो। हृदय में कुछ और, जबान पर कुछ और है तो वह साधक कभी कामयाब नहीं होता।" यह दुराव-छिपाव ही घूँघट है। पहले कपट, चतुराई, छल, छद्म को हटाओ।

मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।।

(मानस, 1/199/6)

मान लें, किसी ने कपट का पट हटा ही दिया तो वह पिया को पाये कहाँ? वे रहते कहाँ हैं? इस पर सन्त कबीर कहते हैं–

घट घट रमता राम रमइया, कटुक बचन मत बोल री।

वे तो हर घट में निवास करते हैं। घट कहते हैं हृदय को! वह हर हृदय में निवास करते हैं।

सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।
बलिहारी घट तासु की, जा घट परगट होय।।

सब घट में, सब हृदय में मेरे साँई का निवास है। **'सूनी सेज न कोय'**– एक भी हृदय का आसन उनसे रिक्त नहीं है। तब तो हमें सबको नमन करना चाहिए। कबीर कहते हैं– नहीं! **'बलिहारी घट तासु की, जा घट परगट होय।'** मैं उस घट को अपने आपको समर्पित करता हूँ जिस घट में वह प्रगट हो गये। जहाँ वह प्रकट हुए, वह सद्गुरु हैं, वह महापुरुष हैं अर्थात् घट में वह प्रकट भी होते हैं। अन्यत्र कबीर की सूक्ति है–

एक राम घट घट में लेटा। एक राम दसरथ का बेटा।।
एक राम का सकल पसारा। एक राम सब जग से न्यारा।।

लगता है कबीर चार राम का वर्णन कर रहे हैं किन्तु ऐसी कोई बात नहीं है। एक ही राम घट-घट में हैं। होते होंगे! हमारे किस काम के? हमें मिलें कैसे? कबीर कहते हैं– **'एक राम दसरथ का बेटा।'**– राम एक ही हैं लेकिन वह दशरथ के बेटे हैं। दसों इन्द्रियों की निरोधमयी प्रवृत्ति ही दशरथ है। यही संकेत इस दोहे में भी है–

राम राम सब कोउ कहै, दसरथ कहै न कोय।
एक बार दसरथ कहे, कोटि यज्ञ फल होय।।

सब 'राम-राम, राम-राम' कहते हैं, दसरथ कोई कहता ही नहीं जबकि कोई एक बार दसरथ कह दे तो **'कोटि यज्ञ फल होय।'** इतना बड़ा लाभ! फिर भी दसरथ-दसरथ कोई नहीं भजता। जपना भी नहीं चाहिए। कितना भी राम-राम जपो, इससे केवल पुण्य-पुरुषार्थ बढ़ेगा लेकिन दसों इन्द्रियों की निरोधमयी प्रवृत्ति के साथ, दसों इन्द्रियों के संयम के साथ जो नाम आता है तो सीधा भगवान से सम्बन्ध जुड़ जाता है।

उपनिषदों में है– शरीर एक रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है, आत्मा रथी है। जब मन की लगाम रथी के हाथ में हो जाती है, यह इतना संयत हो जाता है कि जिधर आप ले चलना चाहें, उधर ही चलेगा। दसों

इन्द्रियों की निरोधमयी प्रवृत्ति दशरथ हैं। विषयों में तो मनसहित इन्द्रियों का निरोध होगा ही नहीं– **'सेवत बिषय बिबर्ध जिमि नित नित नूतन मार।'** *(मानस, 6/92)* अथवा **'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।'** *(मानस, 1/179/2)* हर लाभ एक नवीन लोभ को जन्म देता है। आज किसी की परिस्थिति लड़खड़ा जाती है तो शाम तक दो रोटी का भी ठिकाना नहीं रह जाता। जब दो रोटी मिलने लगती है तो वह फूला नहीं समाता कि प्रभु ने सुनवायी कर ली। लेकिन जब उसका धन्धा चल निकलता है तो कभी लाख, फिर करोड़, दस करोड़.....क्या कभी पेट भरता है? योजना पर योजना बनने लगती है। इतने में ब्लड प्रेशर हाई होने लगता है। इस प्रकार संसार में हर फायदा नवीन लोभ को ही जन्म देता है। संयम होता है केवल ईश्वर के चिन्तन में! दसों इन्द्रियाँ जिस समय सिमटकर इष्टोन्मुखी प्रवाहित हुईं तो भगवान जो हृदय में प्रसुप्त हैं, जागृत हो जायेंगे। वह आपकी उँगली पकड़कर आपको चलाने लगेंगे। यही है **'एक राम दसरथ का बेटा।'** अर्थात् संयम करो, वह अवश्य मिलेंगे। दसों इन्द्रियों का संयम जिस क्षण सधा, वह प्रकट हो जायँगे। उन्हें प्राप्त करने का यही एक तरीका है।

एक राम का सकल पसारा।

राम एक है। जो कुछ भी यावन्मात्र जगत् है उसी का प्रसाद है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! मेरे तेज के अंशमात्र से सृष्टि का सृजन, पालन और परिवर्तन होता है। रामचरितमानस में है–

जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार॥ *(मानस, 4/1)*

जगत् के कारण? भगवान। विश्व के रचयिता? भगवान। इसलिए जो कुछ भी पट-प्रसार आप देखते हैं उस एक परमात्मा के तेज के अंश मात्र से है। यही है **'एक राम का सकल पसारा।'**

इतने बड़े विश्वरूपी कारखाने के मालिक, सबके संचालक! तब तो उन्हें दिन-रात बड़ी व्यस्तता रहती होगी? कबीर कहते हैं– नहीं! **'एक राम**

सब जग से न्यारा।' संसार में एक हैं तो राम। सब प्रपंच उन्हीं से फैला है, फिर भी वह '**जग से न्यारा**'- सबसे अलग हैं, निर्लेप हैं। वह मात्र द्रष्टा के रूप में हैं। जो कुछ घटित होता है, व्यक्ति के कर्मों का फल है; भगवान का इससे कुछ भी लेना-देना नहीं है-

करम प्रधान बिस्व करि राखा।

जो जस करइ सो तस फलु चाखा।। *(मानस, 2/218/4)*

यही आशय सन्त कबीर का भी है कि '**घट घट रमता राम रमइया**'। जब कभी किसी ने प्राप्त किया तो हृदय-देश में पाया। हाँ, उनकी प्राप्ति के लिए एक सुझाव है- '**कटुक वचन मत बोल री।**' मानस में है- '**कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी।**' *(मानस, 2/129/4)* केवल प्रिय तो खल भी बोल देते हैं। उनकी नम्रता भी बनावटी होती है। सीताहरण के षड्यन्त्र में मारीच की सहभागिता के लिए रावण ने उसकी अभ्यर्थना की। मानसकार लिखते हैं- '**भयदायक खल कै प्रिय बानी। जिमि अकाल के कुसुम भवानी।।**' *(मानस, 3/23/8)* खल की प्रिय वाणी खतरनाक हुआ करती है। अंततः मारीच के प्राण नहीं बचे।

लोक-व्यवहार में भी मीठा बोलकर लोग अपना कार्य साधते ही रहते हैं। एक व्यक्ति ने बताया- "महाराज! कलकत्ता के एक सेठ ने हमारे घर दो लाख रुपये पहुँचा दिया है। एक दूसरा सेठ उससे भी अधिक मासिक वेतन पर हमें अपने यहाँ रखने को तैयार है।" हमने पूछा- "आपमें गुण क्या है?" उसने बताया- "महाराजजी! मैं सेल्समैन हूँ। कोई ग्राहक शोरूम में प्रवेश कर ही गया, वह खाली हाथ लौट नहीं सकता। कुछ वस्तुएँ तो वह ले ही लेगा। इसीलिए महानगरों में अच्छे सेल्समैन को उद्योगपति आँकते रहते हैं। किसी का तरीका उन्हें पसन्द आया, दो-ढाई लाख रुपया उसके घर भेजकर उसे अपने यहाँ रख लेते हैं। मेरे पास भी पैसा पहुँच गया है।" यह प्रिय बोलने का ही परिणाम था।

सेल्समैन की कुशलता हमें भी देखने को मिली। एक बार हम इलाहाबाद चले गये। हमारे साथ कई लोग थे। कुतूहलवश हम खिलौनों की एक दुकान

में गये। खिलौने काफी महँगे थे। एक सज्जन कह रहे थे– "मेरा लड़का बहुत सीधा-सादा है। उसके लिए यह साधारण कीमतवाला खिलौना ठीक रहेगा।" सेल्समैन बोला– "बाबूजी! बच्चे तो सौम्य होते ही हैं, क्षीरसागर में शान्त लेटे भगवान विष्णु की तरह! बच्चे तो भगवान का स्वरूप होते हैं। उनके लिए साधारण खिलौना!" उसने अधिक कीमतवाला खिलौना उन्हें दे दिया। हमारे साथ चल रहे बतासा गुरु बोले– "हमारा लड़का तो बड़ा चंचल है। वह खिलौना तोड़ देगा। खिलौना लेकर क्या होगा?" सेल्समैन ने कहा– "चाचाजी! बच्चे तो फुदकते हुए मृग होते हैं। चंचलता ही उनकी शान है। तोड़ भी देगा तो क्या? आखिर हम कमाते किसके लिए हैं!" उसने चिट्टा-पट्टी देकर एक वैसा ही खिलौना उन्हें भी पकड़ा दिया। बच्चा सौम्य हो या चंचल, उससे मतलब नहीं! उसे तो खिलौना बेचना है। यह प्रिय वचन नहीं, काम निकालने का एक तरीका है।

कबीर की दृष्टि में 'कटुक वचन' वह है जो हमें संसृति में भरमाये, संसार में फँसाये। मधुर शब्द वह है जो ईश्वरीय माधुर्य प्रदान कर दे, आध्यात्मिक पथ प्रशस्त कर दे; साधना पथ में हमें अग्रसर कर दे। अन्यत्र कहीं भी मधुर है ही नहीं। साधकों के लिए तो इतने कड़े प्रतिबन्ध हैं कि **'जब बोले तब हरि गुन गावे, मौन रहे की नाम जपावे।'** हृदय में यदि प्रभु का सुमिरन है तो वाणी भी प्रभु की ही निकलेगी। यदि वाणी कौवे की तरह ऊटपटांग निकलती है तो समझना चाहिए कि इसके हृदय में भजन नहीं है। इसलिए **'कटुक वचन मत बोल री'**। परम प्रभु अवश्य ही आपको प्राप्त होंगे। लेकिन इस पथ में एक भयंकर रुकावट और भी है; वह है धन और यौवन का गर्व।

कभी-कभी कतिपय धनी-मानी लोग कहते सुने जाते हैं कि सन्त-महात्माओं के पास जाने की उन्हें क्या आवश्यकता? सौ-पचास आदमी उनके माध्यम से रोजी-रोटी पा रहे हैं, करोड़ों का टर्न ओवर है सालाना! उन्हें किस बात की कमी है? किन्तु भोजन-पानी ही तो सब कुछ नहीं है। भोजन, वस्त्र या मकान के आगे किसी मजदूर को आपने कुछ दिया है क्या? इसीलिए यह महापुरुष कहते हैं– **'धन यौवन का गर्व न कीजै, झूठा पँचरंग चोल**

री।'– झूठा अर्थात् नश्वर! यह आज है तो कल नहीं रह जायेगा। यह छिति, जल, पावक, गगन और समीर– इन पंच नश्वर तत्त्वों से निर्मित एक खोल है, आवरण है। इसके भुलावे में मत आओ। एक अन्य पद में कबीर ने ऐसा ही सन्देश दिया है। लोग मिलने पर परस्पर पूछा करते हैं– कुशल तो है? उत्तर में मिलता है– हाँ, हाँ! कुशल ही है। पुत्र की पदोन्नति हो गयी, नाती अमेरिका पढ़ने गया है, पनत का जन्म हो गया, पौत्र के विवाह के लिए उसे देखनेवाले आ रहे हैं....... यह कुशल, वह कुशल! इतने में आयु के दिन पूरे हो गये। जिस कमी की पूर्ति के लिए हमें दुर्लभ मानव-तन मिला था, उसके लिए तो हमने सोचा ही नहीं।

कुसल कुसल कहत जग बिनसे, कुसल काल की फाँसी।
कह कबीर एक राम भजन बिनु, बाँधे जमपुर जासी।।

वृद्धावस्था तक लोग भजन के लिए समय नहीं निकाल पाते। वे कहते हैं– गठिया-बतास आजकल कुछ ठीक है, स्वाँस भी नहीं फूल रही है, च्यवनप्राश मिल रहा है, वृद्धा पेंशन मिल रही है। कबीर कहते हैं– यह कुशल नहीं है, काल का फेंका फन्दा है। इसमें-उसमें मन लगाया कि 'राम नाम सत्य है'; पहुँचा दिये गये मणिकर्णिका घाट! जहाँ समय पूरा हुआ, मनुष्य न एक श्वास अधिक ले पाता है और न ही एक ग्रास अधिक खा पाता है। तो भला कुशल कहाँ है? **'कह कबीर एक राम भजन बिनु बाँधे जमपुर जासी।'**– बरबस जकड़कर यमलोक पहुँचा दिये जाओगे। जब वृद्धावस्था की यह हालत है, जवानी तो अँधेरी रात है; न जाने कहाँ ऊँचे-नीचे पैर पड़ जाय, व्यक्ति कहीं भी गिर सकता है। इससे बचने के लिए क्या करें? कबीर उपाय बताते हैं–

शून्य महल में दीप जलाकर आसन से मत डोल री।
तोहें पीव मिलेंगे।।

शून्य महल? भजन करते-करते जब चित्त संकल्प-विकल्प से रिक्त हो जाता है, अन्तःकरण में शान्ति छा जाती है, मन में सन्नाटा हो जाता है–यही शून्य महल है। उस समय अन्तःकरण में न शुभ और न ही अशुभ संकल्पों

का उदय होता है। जहाँ संकल्पों का आवरण हटा तो भक्ति का दीप निर्विघ्न जलने लगता है, प्रकाश मिलने लगता है– **'राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥'** *(मानस, 7/119/9)*– विभक्ति माने अलगौझी; भक्ति माने जुड़ना। सुरत भगवान से जुड़ जाती है, भक्तिरूपी मणि प्राप्त हो जाती है। इस भक्ति का उतार-चढ़ाव नाम पर है–

राम नाम मनिदीप धरु, जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ, जौं चाहसि उजिआर॥ *(मानस, 1/21)*

रामनाम मणिदीप है। पहले पूर्वजों के पास मणियों के दीपक हुआ करते थे। प्रकाश के लिए मणि रख दिया। बत्ती ठीक करो, तेल भरो– ऐसा कुछ भी नहीं था। गरीबों का यह प्रयोग तो बहुत बाद में आया। गोस्वामीजी उसी मणि-दीप का रूपक रामनाम को देते हैं कि इस नामरूपी मणि को जीह की देहरी पर रख दो तो भीतर-बाहर दोनों ओर प्रकाश हो जायेगा। बाहर का मायिक अंधकार वहाँ स्पर्श नहीं कर पायेगा; क्योंकि मणि से निरन्तर प्रकाश मिल रहा है। रामनाम में लव लगी है तो माया आयेगी कैसे!

रामनाम– भगवान का नाम तो सभी जपते हैं; हम भी, आप भी लेकिन यह मणि जिह्वा के द्वार पर टिकती ही नहीं। पाँच मिनट हम सब राम-राम कहते हैं लेकिन छठवें मिनट मन हवा से बातें करने लगता है, न जाने यह कहाँ चला जाता है। हम मणि को जिह्वा पर रखते हैं, वह टिकती ही नहीं। कारण यह है कि भीतर संकल्पों की भीड़ लगी हुई है। चिन्तन करते-करते चित्त जब संकल्प-विकल्प से शान्त हुआ, यह मणि स्थायित्व ले लेती है।

मणि रखने का यह अर्थ नहीं है कि हम सब कुछ पा गये। यह ठीक है कि मायिक अन्धकार का अब प्रवेश नहीं होगा किन्तु मणि के प्रकाश में हमें इष्ट तक की दूरी तय करनी है इसलिए **'आसन से मत डोल री'**। आसन के सन्दर्भ में सन्त कबीर की साखी है–

आसन मारे क्या हुआ, मिटी न मन आस।
ज्यों कोल्हू के बैल को, घर ही कोस पचास॥

यह पद्मासन! यह सिद्धासन! आसन लगाकर बैठने से क्या होगा? यह तो शरीर के उठने-बैठने की मुद्राओं को हमने आसन नाम दे रखा है। इससे मन की आशाएँ तो नहीं मिटीं। जिस प्रकार घर में लगे हुए कोल्हू का बैल घर के बाहर झाँकता भी नहीं, एक कमरे में ही घूमता हुआ वह दिनभर में पचासों कोस का चक्कर लगा लेता है, थककर बैठ जाता है। उसी प्रकार कभी-कभी मन इतना अशान्त हो जाता है कि नींद नहीं आती। कोई खिन्न होकर एकान्त कोठरी में बैठ जाता है। आसन तो लग गया लेकिन अन्तःकरण में शोक-संवेदना की लहरें उठती रहती हैं। इस आसन से क्या लाभ?

इसीलिए योग-साधना में आसन की परिभाषा है– **'स्थिरसुखमासनम्'** ***(पातंजल योगदर्शन, साधनपाद, 46)***– स्थिर और सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है। चलचित्र देखनेवाले भी सुखपूर्वक स्थिर बैठते हैं। आश्रम के एक भक्त रामबाबू सेठ हैं। वह अपनी दुकान पर एक आसन से कभी-कभी दस-बारह घण्टे बैठे रह जाते हैं लेकिन शरीर के आकार-प्रकार का नाम आसन नहीं है। पूर्वजों में अनेक ऐसे महापुरुष हुए हैं जिनके शरीर का आसन लगा ही नहीं। अष्टावक्रजी के अंग टेढ़े-मेढ़े थे, वह कौन-सा आसन लगाते! किन्तु वह महाराज जनक के गुरु और उस युग के सर्वोपरि महापुरुष थे। हमारे गुरु महाराज के गुरु सत्संगी महाराज का एक पैर टूट गया था। वह पालथी मारकर कभी बैठे ही नहीं; किन्तु उन्हीं के लिए गुरु महाराज को आकाशवाणी हुई कि इस मन्दिर में तुम्हारे गुरु महाराज हैं। वास्तव में वह महापुरुष थे। वस्तुतः आसन मन का होता है। आसन का आशय है कि मन सब ओर से संकल्प-विकल्प से रहित होकर शान्त सम टिकने लगे। इसीलिए योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि बताते हैं कि आसन कैसे सिद्ध होता है?–

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभयाम्। ***(योगदर्शन, 2/47)***

यम और नियम अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह; शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान में जो हमारा प्रयत्न चल रहा था, उसमें शिथिलता आ जाय, यह क्रियाएँ सहज होने लगें तथा अनन्त एकमात्र परमात्मा में मन लगाने से आसन सिद्ध होता है। यदि शरीर के

बाहरी आकार-प्रकार का नाम आसन होता तो परमात्मा में मन लगाने की क्या आवश्यकता थी? यही कबीर कहते हैं कि मन जब संकल्प-विकल्प से शून्य हो चले, वृत्ति जहाँ शान्त प्रवाहित हुई, रामनामरूपी मणिदीप प्रकाशित हो उठेगा, अब मणि कण्ठ से हटेगी ही नहीं। दीप जल गया तो आसन लग गया। यह आसन लगना भी पर्याप्त नहीं है। तब तक निरन्तर लगे रहें जब तक कि प्रभु सँभाल न लें, वह लक्ष्य विदित न हो जाय। इस प्रकार लगे रहने का परिणाम कबीर अग्रेतर पंक्ति में कहते हैं–

जोग जुगुति सो रंग महल में, पिया पायो अनमोल री।

योग एक युक्ति है, एक कला है। **'जो जेहि कला कुसल ता कहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी। सफरी सनमुख जल-प्रवाह सुरसरी बहै गज भारी॥'** *(विनयपत्रिका, 167)* पहले संस्कारों की भीड़ से भरा महल था, चित्तवृत्ति जब संकल्प-विकल्परहित प्रवाहित हुई, मन शून्य महल बन गया, रामनाम मणिदीप जगमगाने लगा तो ईश्वरीय विभूतियाँ प्रसारित होने लगीं। मन रंगमहल बन गया। **'सब रंग कच्चा सँवरिया रंग पक्का।'** एक प्रभु का रंग ही अपरिवर्तनशील है।

रंग भूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥

(मानस, 1/247/4)

रंगभूमि; जहाँ प्रभु का रंग बरसने लगा, प्रभु की विभूतियाँ अवतरित होने लगीं। कबीर ने भी प्रभु के स्वरूप को एक रंग की संज्ञा दी है–

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं चली मैं भी हो गई लाल॥

परमात्मा एक लाली है, एक आभा है। **'जित देखूँ तित लाल'**– जहाँ भी दृष्टि पड़ी, परमात्मा ही दिखायी पड़ा। यह चिन्तन की एक अवस्था-विशेष है–

सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना॥

(मानस, 2/130/7)

न स्वर्ग स्वर्ग के रूप में रह गया जिसकी हम कामना करें और न नरक नरक के रूप में रह गया जिससे हम भयभीत हों। '**जित देखूँ तित लाल**'– जहाँ भी देखा, प्रभु की लालिमा ही दिखायी पड़ी, प्रभु का शाश्वत रंग ही दिखाई पड़ा और ज्योंही हमने लाली का स्पर्श किया, हम भी लाल हो गये। हम खो गये और वह प्रभु ही शेष बच गया– '**जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।**' *(मानस, 2/126/3)*– उन्हें जानकर वही हो गया। जहाँ स्पर्श किया, पिया मिल गये। पहले विभूतियाँ उतरती हैं, भगवान अपनी स्थिति से अवगत कराते हैं और जहाँ स्पर्श किया तो पिया मिल गये। 'अनमोल'– उनके समान कुछ है ही नहीं।

रामचरितमानस का प्रसंग है। चित्रकूट से लौटकर भरत राम के विरह में व्याकुल थे, दिन-रात चिन्तन में लगे थे, शरीर कृश हो चला था, आँखों में अश्रु थे। चौदह वर्ष पश्चात् जब भगवान लौटे तो हनुमान ने भरत को उसी दशा में बैठा पाया–

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्त्रवत नयन जलजात।। *(मानस, 7/1)*

आँखों में आँसू, कण्ठ पर नाम, हृदय में राम! अति दुर्बल, खिन्न! हनुमान ने भरत को इस दशा में देखा।

देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ।।
(मानस, 7/1/1)

हनुमानजी के शरीर में रोमांच हो गया, प्रेमाश्रु छलक आये।

मन महँ बहुत भाँति सुख मानी। बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी।।
(मानस, 7/1/2)

उन्होंने अपने मन में बहुत प्रकार से सुख मानते हुए अमृत के समान वाणी कहा–

जासु बिरहँ सोचहुँ दिन राती। रटहु निरन्तर गुन गन पाँती।।
रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता। आयउ कुसल देव मुनि त्राता।।
(मानस, 7/1/3-4)

जिसके वियोग में आप रात-दिन घुलते रहे, जिनके गुणों की पंक्तियाँ आप निरन्तर स्मरण करते रहते हैं, शत्रुओं को रण में जीतकर, सीता और अनुज के सहित सकुशल वह प्रभु आ गये।

सुनत बचन बिसरे सब दूखा। तृषावन्त जिमि पाइ पियूषा॥

(मानस, 7/1/6)

इतना सुनते ही भरत का सारा दुःख दूर हो गया, मानो एक गिलास जल के लिए तृषित व्यक्ति अमृत पा गया हो। वह उल्लसित हो खड़े हो गये, बोले–

एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥

तात! इस सन्देश के समान सृष्टि में कुछ भी नहीं है जिसे देकर मैं तुमसे उऋण हो सकूँ। हनुमान! मैं आपका ऋणी हूँ। अब आप हमें प्रभु का विशद चरित्र सुनायें। हनुमान ने उन्हें बताया कि यह समय चरित्र सुनने का नहीं है। यह विमान जो आ रहा है, इसी में हैं प्रभु राम! आप स्वागत की व्यवस्था करें। इसके पश्चात् भरत कभी लौटकर नंदिग्राम की गुफा में नहीं गये और न राम-राम ही जपा। अब **'भजन हमारा हरि करें, हम पायो विश्राम।'** प्रभु मिल ही गये तो सृष्टि में उनसे मूल्यवान बचा ही क्या? पहले तो सृष्टि का कुछ मूल्य दिखायी पड़ रहा था किन्तु जहाँ उन प्रभु को जाना, प्रकृति पुरुषोत्तम में परिवर्तित हो गयी–

जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥

(मानस, 1/111/2)

जगत् खो गया, मानो एक स्वप्न आया और तिरोहित हो गया– **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'**– प्रकृति बची ही नहीं, हम क्या दें? इसलिए **'पिया पायो अनमोल री.....'**– प्रभु अनमोल हैं, कुछ देकर उऋण हुआ ही नहीं जा सकता। माना कि हमने तन-मन-धन सब कुछ त्यागा किन्तु इस त्याग से वह मिलते नहीं दीखते। वह जब भी मिलते हैं, अपनी अनुकम्पा से मिलते हैं। उनके मिलने का सत्परिणाम क्या निकला?

कहत कबीर आनन्द भयो है, अनहद बाजत ढोल री।

कबीर कहते हैं– प्रभु के मिलते ही आनन्द छा गया। **'राम बिमुख न जीव सुख पावै।'** *(मानस, 7/121/18)* जब है ही नहीं तो पायेगा कहाँ?

जो आनन्द सिन्धु सुख रासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी।।

(मानस, 1/196/5)

भगवान आनन्द के समुद्र हैं, सहज सुख की राशि हैं। जब वह अनमोल परम प्रिय उतर ही आये, तो **'अनहद बाजै ढोल री। तोहे पीव मिलेंगे।'** हद कहते हैं सीमा को, अनहद कहते हैं असीम को! असीम अनन्त तो एकमात्र परमात्मा है, उस परमात्मा के यहाँ डंका बजने लगा। उस स्थिति में खुशियों की उमंग सदैव उठती रहती है।

अनहद भजन का सर्वोच्च शिखर है लेकिन उसकी निम्नतम सीमा वहाँ से है जब भजन में लव लग जाय। आज आप दो-चार घण्टे भजन में बैठते हैं, कोई-कोई सन्त दस घण्टे, बारह घण्टे, कोई सोलह घण्टे भी लगातार लवलीन होकर भजन में लगे रहते हैं फिर भी उनका भजन एक सीमा में ही है; किन्तु एक स्तर ऐसा भी आता है कि,

जागत में सुमिरन करे, सोवत में लौ लाय।
सुरत डोर लागी रहे, तार टूट ना जाय।।

जब तक जागो, सुमिरन करो। सोने लगो तब भी लव लगाकर शयन करो। जब भी नींद खुले तो सुरत वहीं लगी मिले। भजन का क्रम टूटने न पाये। पूज्य महाराजजी हमलोगों को बताया करते थे, "हो! रात के ठीक दो बजे हमारी नींद खुल जाती थी। जहाँ आँख खुले तो भक से गुरु महाराज का स्वरूप मेरे हृदय में आ जाय। फिर एक ही बैठकी में सवेरे के छः बज जाते थे।"

साधक को चाहिए कि भजन के लिए बैठने पर आँखें भली प्रकार खुली रखें। जिसकी पलकें जितना अधिक देर तक खुली रहेंगी, उतना ही शीघ्र ध्यान लगता है। बन्द आँखों से भजन होता ही नहीं, ध्यान ही नहीं लगता बल्कि

नींद भी आ जाती है। इसलिए आँख खुलते ही पहला संकल्प आये तो नाम; दृश्य आये तो गुरु महाराज का रूप! इसी क्रम से चलते-चलते जहाँ मूल का स्पर्श हुआ, तहाँ प्रकृति की सीमाएँ समाप्त और भजन की सीमा भी समाप्त! वह स्थिति आ जाती है कि '**भजन हमारा हरि करें, हम पायो विश्राम।**' हम तो हो गये पेंशनर! फिर भरत गुफा में कभी नहीं गये। जिसको पाना था, पा लिया। इसके आगे ढूँढ़ें किसे? यह अनहद है, परमात्मा है। अब कुछ भी पाना शेष नहीं है। वह प्रभु अवश्य मिलेंगे। लेकिन '**कपट केवड़िया खोल**'– छल-छद्म छोड़ो, निश्छल निर्लेप होकर प्रभु के समक्ष हो जाओ।

जीव जड़ स्वभाव का होता ही है इसलिए वह कपट का आचरण आसानी से छोड़ नहीं पाता। धृतराष्ट्र ने सदा ही कपट किया। अपने पुत्रों की तुलना में पाण्डुपुत्रों का उत्कर्ष उसे खटक रहा था। उसने राजनीतिज्ञ अपने कुटिल मंत्री कुणक से परामर्श किया। उसने कहा– "राजन्! सन्न्यासियों की भाषा बोलो कि हमें राज्य और वैभव की कोई इच्छा नहीं है। भीतर क्रोध भरा रहने पर भी पाण्डुपुत्रों से प्रिय बोलो। उन्हें अपने विश्वास में ले लो और समाप्त कर दो।" आग में जलाने का परामर्श उसी ने दिया था। लाक्षागृह का षड्यन्त्र उसी की देन थी। द्यूत के आमंत्रण से वनवासपर्यन्त के कुचक्रों में धृतराष्ट्र की मौन सहमति थी। वनवास के अन्त में पाण्डव लौटकर अपना राज्य न माँगें, इसके लिए उसने संजय द्वारा युधिष्ठिर को एक संदेश भेजा। उसने कहा– "संजय! प्रिय युधिष्ठिर का शिर सूँघना और कहना, तुम्हारे अन्धे वृद्ध और अशक्त ताऊ को बस एक ही कष्ट है कि तुमलोग दुःख में हो। मेरा पुत्र दुर्योधन बड़ा धूर्त है, मेरा कहना ही नहीं मानता। तुम्हारा राज्य तुम्हें सौंपना नहीं चाहता जिससे आपस में युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी है। प्रिय अनुजपुत्र! दुर्योधन हठी है किन्तु तुम तो समझदार हो। भाई-भाई का झगड़ा ठीक नहीं है इसलिए प्रिय अनुजपुत्रो! तुमलोग जंगल में ही रह लो। जंगल में रहने का तुम्हें अभ्यास भी हो चला है। किसी भी मूल्य पर शान्ति बनाये रखने में ही तुम्हारी महानता है।"

युधिष्ठिर ने इस निवेदन को बड़े पिता की विवशता समझ स्वीकार ही कर लिया होता किन्तु संयोग से भगवान श्रीकृष्ण भी वहीं थे। उन्होंने कहा– "राजन्! यह शान्ति का संदेश जहाँ से आया है, उसका क्रियान्वयन भी पहले वहीं से होना चाहिए। आप केवल उनके अनुजपुत्र ही नहीं, क्षत्रिय हैं, राजा हैं। आपका क्षात्रधर्म, राजधर्म क्या कहता है? आप सबने प्रतिज्ञाएँ कर रखी हैं, उनका क्या होगा?" अंततः युधिष्ठिर ने संजय से कहा कि "पिताजी का चरणस्पर्श कर कहना कि आपके प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हुए मैं क्षत्रिय-धर्म का पालन करूँगा। "

भीषण संग्राम हुआ। भाइयों और सहायकों समेत दुर्योधन मारा गया। विजयोपरान्त भाइयों सहित युधिष्ठिर श्रीकृष्ण को साथ लेकर धृतराष्ट्र का आशीर्वाद लेने गये। धृतराष्ट्र क्रोध से बौखलाया था फिर भी शान्ति का प्रदर्शन करते हुए उसने पूछा– "केशव! युद्ध में किसकी विजय हुई?" भगवान ने कहा– "राजन्! आपका आशीर्वाद जिसके साथ था, आपके उन अनुजपुत्रों की विजय हुई है। जहाँ धर्म है, वहाँ विजय होती है। राजन्! यह धर्मराज युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और मैं वासुदेव कृष्ण आपको प्रणाम करते हैं।"

भीम का नाम सुनते ही धृतराष्ट्र की भावभंगिमा बदलने लगी। उसका शरीर ऐंठने लगा। उसने कहा– "पहले प्रिय भीम को मेरे पास ले आओ। मैं उससे गले मिलना चाहता हूँ।" भोला-भाला भीम आगे बढ़ा। श्रीकृष्ण ने भीम का हाथ पकड़कर पीछे खींच लिया और लोहे की बनी भीम की उस मूर्ति को आगे बढ़ाने का संकेत किया जिस पर दुर्योधन गदा प्रहार का अभ्यास करता था। जन्मान्ध धृतराष्ट्र ने न कभी भीम का स्पर्श किया था न लोहे की उस मूर्ति का। वह लोहे की उस मूर्ति को ही भीम समझ उससे लिपट पड़ा। उसने मूर्ति की गर्दन मरोड़ दी, हाथ उखाड़ दिया और रक्त का वमन करते हुए मूर्च्छित हो गया। पाण्डव खड़े-खड़े तमाशा देख रहे थे। किञ्चित् होश आने पर वह बड़बड़ाया– "बदला ले लिया! प्रिय दुर्योधन, तुम्हारा बदला मैंने ले लिया।"

चैतन्य होने पर धृतराष्ट्र को अपने प्राणों की रक्षा की चिन्ता होने लगी। फिर वह छल-छद्म करने लगा– ''केशव! यह क्या हो गया? मुझ जन्मान्ध से क्या हो गया? मुझ मंदबुद्धि से क्या अनर्थ हो गया?'' वह कहना चाहता था– जो कुछ हुआ, अनजाने में, अकस्मात् हो गया। श्रीकृष्ण बोले– ''नहीं, राजन्! आज जो कुछ करेंगे, वह राजनीति का ही कोई पाठ होगा। आप अनर्गल तो कुछ कर ही नहीं सकते। आप महान राजनीतिज्ञ हैं सम्राट!''

यह सुनकर धृतराष्ट्र घबड़ाया– कहीं भीम बच तो नहीं गया! उसने पूछा– ''केशव! यहाँ कौन-कौन खड़े हैं?'' श्रीकृष्ण बोले– ''धर्मराज युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव! सभी तो हैं। मैंने आपके अन्तर्भाव को भाँपकर लोहे की बनी भीम की मूर्ति आपको पकड़ा दिया था।'' तब धृतराष्ट्र बोला– ''केशव! इस भीम ने मेरे सभी पुत्रों की हत्या कर दी। इसने मेरे एक भी पुत्र को नहीं छोड़ा कि वह मेरी वृद्धावस्था में दो घूँट पानी तो पिलाता इसीलिए मैं विवेक खो बैठा था। प्रिय भीम! मुझे क्षमा कर दो। युधिष्ठिर! मुझे क्षमा कर दो।''

श्रीकृष्ण ने कहा– ''राजन्! अपने पुत्रों की हत्या आपने स्वयं की है। राज्य तो आपका था ही नहीं। आप तो शासन चलाने के लिए बैठाये गये थे किन्तु पुत्र-मोह में पड़कर सही उत्तराधिकारी को राज्य सौंपना नहीं चाहते थे। लाक्षागृह आपकी दुरभिसन्धि थी, द्रौपदी चीरहरण में आप हैं, जुए में आप हैं, भीम को जहर देने में आप हैं। हर षड्यन्त्र में आपकी सहभागिता रही है। जिस तरह आप आँखों से अन्धे हैं, उसी तरह हृदय से काले भी हैं लेकिन विजय सत्य की होती है राजन्!''

अस्तु, जीव का स्वभाव है छिपाना। अंततोगत्वा धृतराष्ट्र ने भी समझ लिया कि श्रीकृष्ण से तो कुछ छिपा ही न था। पाण्डव तमाम षड्यन्त्रों से बचते रहे केवल इनके कारण। यह तो सब जानते हैं, अन्तर्यामी हैं। धृतराष्ट्र का दुराव-छिपाव – यही तो है घूँघट। इस स्वभाव से विवश होकर लोग भगवान से भी छल-कपट कर बैठते हैं। सुदामा भी ऐसा कपट कर बैठे थे।

वह श्रीकृष्ण के हिस्से का एक मुट्ठी चना चबा गये थे। श्रीकृष्ण ने पूछा– ''गुरुमाता ने चने दिये थे, कहाँ हैं?'' सुदामा ने कहा– ''दोनों हाथों से मैंने वृक्ष पकड़ रखा है, लगता है कहीं गिर गये।'' जबकि सुदामा चने खा रहे थे, उससे कट-कट की ध्वनि आ रही थी। श्रीकृष्ण ने पूछा– ''तुम्हारे दाँत क्यों कटकटा रहे हैं?'' सुदामा ने कहा– ''दुर्बल ब्राह्मण हूँ भैया! दाँत तो शीत से बज रहे हैं।'' श्रीकृष्ण ने कहा– ''ठीक है सुदामा! एक मुट्ठी चना हमारा तुम्हारे ऊपर ऋण रहा।'' उस एक मुट्ठी चने के पीछे सुदामा जीवनभर भूखे मरते रहे। उनकी वृद्धावस्था आ गयी, तब कहीं प्रायश्चित पूरा हुआ। श्रीकृष्ण की कृपा से उन्हें सबकुछ मिल गया जिसके अधिकारी वह पहले से ही थे। लोग सोचते हैं कि वह जो कर रहे हैं, उनकी योजना कोई नहीं जानता; किन्तु वास्तविकता तो यह है कि हम संकल्प बाद में करते हैं, भगवान पहले से ही सब जानते हैं। हम उनसे कुछ छिपा भी तो नहीं सकते।

लोकव्यवहार में आप जो करते हैं, करें; किन्तु चिन्तन-पथ में जो हृदय में हो, वही जबान पर भी होना चाहिए; क्योंकि आप लाख पर्दा करने का प्रयास करें, वह पहले से ही जानते हैं। उनसे कुछ भी पर्दा नहीं है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में कथा आती है कि गोपियाँ यमुना में स्नान कर रही थीं। श्रीकृष्ण उनका चीर लेकर कदम्ब वृक्ष पर चढ़ गये और बाँसुरी बजा दिया। तब गोपियों को अपने वस्त्रों का ध्यान आया। उन्होंने कहा– ''कन्हैया! हमारे वस्त्र दे दो।'' श्रीकृष्ण ने कहा– ''नदी से बाहर आकर अपने-अपने वस्त्र पहचान कर ले लो।'' गोपियों ने कहा– ''हम निर्वस्त्र हैं, बाहर कैसे आ सकती हैं?'' श्रीकृष्ण ने पूछा– ''वस्त्र के बिना तुमलोग गयी कैसे?'' गोपियों ने कहा– ''उस समय यहाँ कोई था ही नहीं।'' श्रीकृष्ण ने कहा– ''पागल हो गयी हो। देखो यमुना के जल में मैं हूँ, तुम्हारे हृदय में मैं तुम्हारी आत्मा हूँ, आकाश में मैं हूँ, पृथ्वी पर मैं हूँ। मैं कहाँ नहीं हूँ?'' जब गोपियों ने देखा कि कन्हैया सर्वत्र हैं तो उनसे क्या छिपाना! वह निश्छल होकर सामने आ गयीं। घूँघट अर्थात् भगवान और साधक के बीच में कपट का जो पर्दा था, हट गया। **'घूँघट के पट खोल'**। भगवान ने उन्हें वस्त्र दे दिया।

यह चीरहरण प्रसंग भी वास्तव में आध्यात्मिक रूपक है। गोपी = गो अर्थात् इन्द्रियों का प्रतीक है। ये उच्छृंखल होती हैं। इन्हें चराने में सतर्क रहो। विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा और समर्पण से ये संयत होती हैं तथा काम, क्रोध, राग और द्वेष से ये विकृत होती हैं। इन्द्रियाँ जब इष्टोन्मुखी हो जाती हैं तो त्यागरूपी तालाब में अवगाहन करने लगती हैं। काया ही कदम्ब है, उसमें भगवान अवतरित हो जाते हैं। वह दिव्य वस्त्र प्रदान करते हैं, फिर यह जीवात्मा कभी निर्वस्त्र नहीं होता। आज सौभाग्य से आप सब वह तन पाये हैं जिस पर वस्त्र पहना जाता है। कदाचित् वह तन मिल गया गाय, बैलवाला; वहाँ कौन-सा वस्त्र, कोट-पैन्ट पहनेंगे? भगवान द्वारा प्रदत्त वस्त्र से आप फिर कभी निर्वस्त्र नहीं होंगे, कृष्णमय हो जायेंगे। चित्त ही चीर है, योग ही यमुना है। योगारूढ़ता आते ही भगवान आत्मा में अपना प्रसारण करने लग जाते हैं, फिर तो जीव अपने लक्ष्य परमात्मा में समाहित होकर ही रहता है।

आज प्रायः लोग कहते हैं कि यह करो, वह मत करो; पुण्य करो, पाप मत करो जबकि भजन जागृत ही नहीं है। आप भजन की गीतोक्त विधि पकड़ें। ज्यों-ज्यों आपके भजन-संयम का स्तर उठेगा, वह भजन बीज से पौधा, पौधे से वृक्ष हो उठेगा जिसमें समय पर फूल-फल आयेंगे। जहाँ फल का स्वाद मिला, कड़वी बुराइयाँ स्वतः छूट जायेंगी।

॥ ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय ॥

आलम है उदासी का

जब तक भगवान की ओर से उनकी महिमा की कोई झलक नहीं मिलती, तब तक हृदय में उनके प्रति श्रद्धा जागृत नहीं होती। इसी आशय की गजलमिश्रित एक साधनापरक कौव्वाली इस प्रकार है–

आलम है उदासी का हस्रत सी बरसती है।
जिस दिन से गये हो तुम ये आँखें तरसती हैं॥

मैकश के लबों से जब पीने की सदा आई।
मैखाना भी खाली है बोतल भी तरसती है॥

मैखाने के अन्दर ही रहने दे मुझे साकी।
मैखाने के बाहर तो इक आग बरसती है॥

मैं शह्ले खमोशाँ से गुजरा तो सदा आई।
आहिस्ता चलो लोगों दीवानों की बस्ती है॥

दुनिया की निगाहें तो जहरीली हैं नागिन सी।
मैं दूध पिलाता हूँ फिर भी मुझे डसती हैं॥

साधना के आरम्भ में ही प्रभु एक झलक दिखाकर चले जाते हैं। तभी तो उन्हें प्राप्त करने की व्याकुलता बढ़ जाती है और साधक उन्हें प्राप्त करके ही दम लेता है। अनेक सन्तों की जीवनी में ऐसा देखने को मिला। अयोध्या के समीपवर्ती ग्राम के ठाकुर रामसिंह राजकीय कारागार के अधीक्षक थे। वह रामलीला तथा सत्संग के इतने अधिक प्रेमी थे कि जहाँ भी ऐसे आयोजन होते, वे वहाँ पहुँच जाया करते थे। एक बार किसी ने महाराजा साहब से उनकी शिकायत कर दी कि वहाँ पहरे पर कोई नहीं था। महाराजा ने कहा– वहाँ रामसिंह बहुत ही कर्त्तव्यनिष्ठ सेवक है। और लोगों ने भी बताया कि वह तो रात-दिन सत्संग सुनते रहते हैं। एक दिन महाराज वेष बदलकर निरीक्षण करने गये। वहाँ रामसिंह अपनी जगह उपस्थित मिले। शिकायत करनेवालों

ने बताया कि वह सत्संग सुन रहे हैं, हमलोग देखकर आ रहे हैं। महाराजा उसी वेश में सत्संग-स्थल पर भी गये। उन्होंने देखा, वहाँ भी रामसिंह हाथ जोड़कर श्रद्धापूर्वक सत्संग सुन रहे थे। महाराजा को अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। वह तत्काल कारागार की ओर चल पड़े। उन्होंने देखा, रामसिंह पहरे पर खड़े हैं।

दूसरे दिन प्रातःकाल महाराजा ने रामसिंह को बुलवाया। रामसिंह चिन्तित हो गये। लोगों ने उन्हें बताया कि हुजूर आये थे। बड़े-बड़े अधिकारी भी थे। वह यहाँ कुछ जाँच करने आये थे। रामसिंह ने सोचा, कल तो मैं सत्संग में था, अब यहाँ जैसा हुआ हो। लगता है नौकरी तो गयी। रामसिंह दरबार में गये। महाराजा ने कहा– "रामसिंह! हम तुमसे बहुत प्रसन्न हैं। अब तुम केवल सत्संग सुना करो, रामलीला देखो, वेतन भी लिया करो।" रामसिंह ने सोचा, महाराज व्यंग कर रहे हैं। उन्होंने कहा– "हुजूर! हम कल कारागार पर नहीं थे, क्षमा किया जाय।" महाराजा ने कहा– "लेकिन हमने तुम्हें वहाँ उपस्थित पाया था। यदि तुम सत्संग में थे तो ड्यूटी पर कैसे थे?" रामसिंह ने कहा– "महाराज! मैं झूठ नहीं बोलता। मैं सत्संग सुन रहा था। लगता है भगवान ने ही मेरे स्थान पर ड्यूटी दी।" उन्होंने विनयपूर्वक राजकीय सेवा से त्यागपत्र दे दिया और भजन में लग गये। वह बाबा मणिरामदासजी के नाम से प्रसिद्ध हुए। अयोध्या में मणिरामजी की छावनी आज भी सन्त-सेवा के लिए प्रख्यात है। भगवान की महिमा का प्रत्यक्ष दर्शन ही उनके गृह-निष्क्रमण का कारण बना। जिस दिन उन्हें लगा कि भगवान ने उनके स्थान पर ड्यूटी दिया, उनकी लगन लग गयी कि भगवान ने इतने लोगों को दर्शन दिया तो मुझे क्यों नहीं दिया? **'जिस दिन से गये हो तुम, ये आँखें तरसती हैं।'**

पूज्य गुरु महाराजजी के जीवन की भी ऐसी ही घटना है। उन्होंने साधु होने के लिए कभी सोचा भी न था। उन्हें पहलवानी का शौक था। उन्हें बस एक ही लालसा थी कि कब गामा पहलवान से हाथ मिलायें। वह पड़ोस के स्टेट में आनेवाला था। उससे कुश्ती के लिए तेल-पानी, भोजन, दण्ड-बैठक चल रहा था। इसी बीच दो-तीन विचित्र घटनाएँ घट गयीं। एक आकाशवाणी

हुई कि इन सन्त को भोजन कराओ। कुछ दिनों पश्चात् पुनः आकाशवाणी हुई कि पाप करने जा रहे हो, घोर नरक में जाओगे। उसी दिन तीसरी आकाशवाणी हुई कि इस मन्दिर में तुम्हारे गुरु महाराज हैं।

घने धुप्प अँधेरे में महाराजजी उस खण्डहर हो चले मन्दिर में गये जिसमें कोई दिया-बत्ती भी नहीं करता था। मन्दिर के भीतर जाकर अँधेरे में ही उसमें चारों ओर घूमकर महाराजजी बाहर निकल आये। भीतर कोई दिखा ही नहीं। महाराजजी को बड़ी झुँझलाहट हुई। पता नहीं हमारे पीछे कौन पड़ा है? कौन जोर से बोलता है, कौन धीरे से बोलता है? वह इसी उधेड़बुन में थे कि मन्दिर के भीतर से खाँसने की आवाज आयी। अब उन्हें लगा कि इसमें तो वास्तव में कोई है। उन्होंने पुनः मन्दिर के भीतर जाकर सूक्ष्मता से देखा तो गर्भगृह के कोने में उनके गुरु महाराज बैठे थे, वही जिन्हें क्षेत्रीय लोग पगला, सत्संगी या लँगड़ू बाबा कहते थे। महाराजजी ने मन्दिर में प्रकाश की व्यवस्था की और तीन दिन, तीन रात उनकी सेवा में लगे ही रह गये। इस अल्प अवधि में ही उन्होंने उनसे साधना का क्रम सीखा और भजन में लग गये।

गाँव से एक फर्लांग दूर एक झाड़ी थी, एकान्त था। महाराजजी उसी झाड़ी में बैठकर भजन करने लगे। गाँव के लोग परेशान थे कि उन्हें हो क्या गया? वह आसमान में उड़ गये या जमीन में समा गये। छः दिनों के पश्चात् उन्हें लोगों ने झाड़ी में बैठा देख लिया। सब आकर उन्हें देखने लगे कि इनको क्या हो गया है? सबने उनसे घर चलने को कहा किन्तु महाराज ने किसी को कोई उत्तर नहीं दिया, भजन में लगे रहे। किसी ने कहा, हमने इन्हें उस लँगड़े के साथ देखा था। लोगों ने अनुमान लगाया, यह सब उसी का किया लगता है। उसका एक पाँव टूटा है, अब दूसरा भी तोड़ दो। वह लड़कों की बुद्धि भ्रष्ट कर रहा है, बड़ा जादूगर है। गाँव के बीस-पचीस युवक लाठी लेकर उन सत्संगी महाराज का पैर तोड़ने के लिए ढूँढ़ने लगे। एक महीने तक लोग ढूँढ़ते ही रह गये। इधर लोग महाराज को मनाते ही रह गये, महाराज किसी से बोलते ही न थे। क्रमशः लोग शान्त हो चले, सबने लाठियाँ रख दीं। लोग अपने-अपने कार्यों में लग गये।

मामला शान्त हो चलने पर एक दिन सत्संगी महाराज गाँव में दिखाई पड़ गये। सबलोग दौड़कर फिर एकत्रित होकर बोले– "अरे लँगड़ू बाबा! लड़के की बुद्धि भ्रष्ट कर दिया।" सत्संगी महाराज बोले– "हूँ! हमने ठेका ले रखा है सबकी बुद्धि बिगाड़ने का? क्यों, गाँव में वह पागल है, एक और उसका लड़का पागल है; और भी कई हैं! सबकी बुद्धि क्या हमने ही बिगाड़ा है? अपने कर्मों को दोष तो दोगे नहीं।" वह महापुरुष तो थे ही, लोग करते भी क्या? बड़ी परीक्षायें हुईं, लोगों ने अनुरोध किया किन्तु महाराज भजन में लगे ही रह गये।

प्रत्यक्ष रूप से कहने-सुनने का प्रभाव पड़ते न देख संगी-साथियों ने सेवा-सान्निध्य द्वारा उन्हें घर लौटाने की योजना बनायी। गुरु महाराज अच्छे पहलवान थे। उनके अखाड़े में लड़ने वाले पन्द्रह-पचीस शागिर्दों ने भजन-स्थली के समीप ही अखाड़ा खोद लिया। वे लोग वहीं दण्ड-बैठक लगाने लगे। रात को वह सभी वहीं सोने भी लगे। एक दिन उनलोगों ने महाराजजी के समक्ष प्रस्ताव रखा कि सन्तजी! प्रभातफेरी किया जाय। महाराजजी को उनका यह प्रस्ताव अच्छा लगा। प्रातः चार बजते ही लोग झाँझ-मजीरा बजाते 'सीताराम सीताराम सीताराम जय सीताराम' कहते रामकोला गाँव की परिक्रमा करते और सवेरा होने से पहले ही भजन कुटीर पर आ जाते थे। महाराजजी बताते थे कि मैं भी उनके साथ हो लिया करता था।

प्रभातफेरी के आरम्भ में पन्द्रह-सोलह व्यक्ति ही हुआ करते थे; किन्तु परिक्रमा ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती, समीप के लोग भी उसमें सम्मिलित हो जाया करते थे। उनकी संख्या बढ़ते-बढ़ते साठ-सत्तर तक पहुँच गयी। वे सभी महाराजजी के साथ आश्रम तक आते, महाराजजी को प्रणाम कर अपने-अपने घरों को लौट जाया करते थे।

महाराजजी का नियम था कि वह रात्रि के दो बजे ही उठकर भजन में बैठ जाया करते थे। वहाँ शयन करनेवाले पहलवान शिष्यों का अनुरोध था कि सन्तजी! आप हमलोगों को ठीक चार बजे जगा दिया करें जिससे प्रभातफेरी का नियम खण्डित न हो। महाराजजी उनको चार बजे जगा दिया करते थे।

एक दिन महाराजजी भजन में बैठे तो बैठे ही रह गये। न जाने कब सवेरा हो गया। महाराज को बड़ी चिन्ता हुई कि आज तो नियम खण्डित हो गया। इतने में सभी शागिर्द भी भड़भड़ाकर उठे और कहने लगे– "सन्तजी! आपने जगाया नहीं।" महाराजजी कुछ बोले ही नहीं। चिन्ता तो महाराजजी को भी थी कि आज कीर्तन नहीं हुआ।

इतने में गाँव से लोग आने लगे। एक ने कहा– "सन्तजी! आज आप किस रास्ते से निकल गये? दूसरा कोई रास्ता भी तो नहीं है? आज तो कीर्तन की बड़ी मधुर ध्वनि सुनायी पड़ रही थी। ध्वनि बहुत समीप से आती हुई सुनायी पड़ रही थी। हम चारपाई छोड़कर तैयार ही थे कि सामने से प्रभातफेरी गुजरे तो हम भी सम्मिलित हो लें किन्तु आप सब उधर आये ही नहीं! किस रास्ते से आप सब निकल गये?"

महाराजजी ने सोचा– हम तो गये ही नहीं थे। यह व्यंग में कुछ कह रहा है। इतने में दो–चार-छः क्या पन्द्रह-पचीस लोग अलग-अलग मुहल्ले से आये और कहे कि हमने भी सुना, हम भी सम्मिलित नहीं हो पाये। आज तो बहुत मधुर स्वर में कीर्तन हो रहा था। महाराज समझ गये कि भगवान ऐसा भी कुछ कर सकते हैं। वह मण्डली बनाकर कीर्तन भी करा सकते हैं। आज मेरी असावधानी से भगवान को कितना कष्ट उठाना पड़ा। महाराजजी ने सबसे कह दिया कि बस, अब आज से कीर्तन नहीं होगा। महाराजजी भाव-विह्वल हो गये कि जब भगवान इतने महान हैं तो हम अब केवल उन्हीं का चिन्तन करेंगे, हृदय से कीर्तन होगा। महाराज जी विक्षिप्त और उन्मत्त की तरह अहर्निश भजन में लीन रहने लगे।

लोगों ने महाराजजी की यह दशा देखी तो आपस में चर्चा करने लगे कि सन्तजी पागल हो गये, दिमाग का स्क्रू लूज हो गया लगता है। कोई कहता– इन्हें टी.बी. हो गयी, घड़ी टल रही है, जब न मर जायँ। एक बार ऐसे ही शब्द महाराजजी को सुनायी दे गये। महाराजजी ने भगवान से पूछा– "प्रभो! क्या यह लोग ठीक कह रहे हैं कि हमें टी.बी. हो गयी है? क्या मैं बीमार हूँ?" भगवान ने कहा– "ये जो कुछ कहते हैं, इन्हें कहने दो। तुम

लगे भर रहो।'' बस, उस दिन से महाराजजी निर्द्वन्द्व होकर चिन्तन में लग गये। चिन्तन तो पहले भी करते थे किन्तु जिस दिन भगवान ने कीर्तन सम्पन्न कराया, महाराजजी की व्याकुलता और भी बढ़ गयी।

ऐसा ही कथानक भगवल्लीला के अमरगायक महात्मा सूरदासजी का भी है। वह करोड़पति बाप के इकलौते बेटे थे। अत्यधिक लाड़-प्यार बच्चों को बिगाड़ देता है। बचपन में उनका नाम विल्वमंगल था। युवावस्था तक आते-आते वह विषय-वासनाओं में आकण्ठ डूब चुके थे। पिता ने उनका विवाह एक अत्यन्त सुलक्षणा कन्या से कर दिया; किन्तु विल्वमंगल को नर्तकियों के यहाँ का नृत्य-संगीत अधिक रुचिकर था। घर की सारी सम्पत्ति इसी व्यसन में समाप्त हो गयी। मरते समय उनके पिता ने बहू को कुछ सम्पत्ति दिया, उसे भी विल्वमंगल नर्तकियों की सेवा में अर्पित कर आये। धन समाप्त होने पर नर्तकियों ने उन्हें तिरस्कारपूर्वक अपने घर से निकाल दिया। इस अपमान से क्षुब्ध होकर उन्होंने एक नर्तकी को छुरा मार दिया। उस अपराध में उन्हें फाँसी होती किन्तु उनकी पतिव्रता पत्नी ने आरोप अपने सिर ले लिया। विल्वमंगल को सिपाहियों ने छोड़ दिया।

सम्पत्ति-घर-पत्नी, विल्वमंगल का सब कुछ समाप्त हो चुका था। नर्तकी से तिरस्कृत, समाज से उपेक्षित उन्होंने वृन्दावन का रास्ता पकड़ लिया। दोपहर होते-होते वह एक नगर में पहुँचे। वहाँ का नगरसेठ बहुत धर्मात्मा था। कोई उस रास्ते से भूखा-प्यासा नहीं जा सकता था। संत-महात्माओं को कुटी बनवा देना, कम्बल-लोटा देना, भोजन कराना उसका स्वभाव था। उसने अपने दस-पन्द्रह सेवकों को इसीलिए लगा रखा था कि कोई साधु-महात्मा, भूखा-प्यासा, जरूरतमंद कहीं कष्ट न पा जाय। सेवक उन्हें ले आते और सेठ उन सबकी आवश्यकताओं की आपूर्ति कर देता था।

सेठ के सेवक विल्वमंगल को भी सेठ के घर ले आये। भोजन की थाल लेकर सेठानी आयी। विल्वमंगल को लगा, यह तो वही नर्तकी है। इसे तो हमने छूरा मार दिया था। क्या यह अभी जीवित है? हो सकता है यह उसकी बहन हो। उन्होंने कहा– ''दरवाजे के बाहर हम भोजन नहीं करते।

खिलाना ही हो तो हम इस सुन्दरी के कक्ष में भोजन कर सकते हैं।'' सेठानी ने कहा– ''महाराज! बिना भोजन-प्रसाद पाये इस दरवाजे से आज तक कोई सन्त-महात्मा गया ही नहीं। आप कृपा कर कक्ष में ही पधारें।'' कक्ष में सेठाइन चाँदी का थाल लगाकर पहुँची तो विल्वमंगल को फाँसी का फन्दा दिखायी देने लगा। वह सोचने लगे– एक औरत के कारण फाँसी, एक औरत ने छुड़ाया; फिर भी यह दुष्ट चित्त उधर ही भाग रहा है। यह सारा दोष इन आँखों का है। उन्होंने सेठानी से कहा– ''माताजी! एक सुई-धागा भी लाइए।''

सेठानी ने सोचा– लगता है भगवान ने इनका हृदय-परिवर्तन कर दिया, तभी तो यह माताजी कहने लगे हैं। उसने सुई-डोरा देते हुए पूछा– ''इनका क्या करेंगे महात्मन्!'' विल्वमंगल ने कहा– ''प्रेम टूट गया है, थोड़ी सिलाई कर लेने दो।'' उन्होंने सुई दोनों आँखों में कोच लिया। सेवक दौड़े, महात्मा ने आँख में सुई चुभा लिया। लोगों ने उपचार किया किन्तु आँखों की रोशनी चली गयी। अब वह सूरदास हो गये थे। लोगों को पश्चाताप हुआ। सूरदास ने कहा– ''आपलोग चिन्ता न करें। इन आँखों ने भूल की है इसलिए इनको दण्ड देना आवश्यक था। यदि एक इन्द्रिय हमें परमार्थ-पथ से भटकाती है, गड्ढे में गिराती है तो उस एक इन्द्रिय के बिना भी जी लेना श्रेयस्कर है। ये आँखें इसी लायक थीं, इसमें आपलोगों का दोष नहीं है। कृपया आप सब हमें वृन्दावन का रास्ता बता दें।'' लोगों ने उन्हें वृन्दावन का रास्ता पकड़ा दिया।

जन्मान्ध व्यक्ति अनुमान के आधार पर प्रायः सर्वत्र चले जाते हैं किन्तु इन सूरदास को अन्धा हुए बहुत समय भी व्यतीत नहीं हुआ था। जंगल में पगडंडी के किनारे भूमितल के बराबर का ही एक कुआँ था, वह कुएँ में गिर गये। कुआँ में जल अधिक नहीं था। छाती भर पानी में सूरदास इधर से उधर चलते रहे। उनके मुख से केवल 'हे गोविन्द, हे मुरारी' निकल रहा था। उन्होंने सोचा, जितनी श्वास बची है, क्यों न मैं इन्हें प्रभु के स्मरण में ही लगा दूँ। वहाँ न कोई गाँव-गिराँव था न कोई संगदोष, अन्य कोई संकल्प-विकल्प भी न था। चिन्तन में भगवान ही भगवान थे। सातवें दिन एक बच्चे ने कहा– ''बाबा! यहाँ क्या कर रहे हो? लो, मेरा हाथ पकड़ लो और बाहर

निकल आओ।'' सूरदास ने उस बालक का हाथ कसकर पकड़ लिया और कुएँ से बाहर आ गये। उन्होंने उस बालक से कहा– ''भैया! कौन हो और इस जंगल में कहाँ से आ गये?'' उस बालक ने हाथ छुड़ाया और बिना कुछ कहे ही चलता बना। कुएँ से निकलने में दीवाल से पाँव लगाते सूरदास को आभास हो गया कि कुआँ बीस-पच्चीस हाथ गहरा तो होगा ही। एक बच्चे का हाथ इतना लम्बा हो, असंभव है। लगता है, भगवान ने ही करुणा कर हमें बाहर किया है। वह बोल उठे–

बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानि के मोहिं।
हिरदै से जब जाहु तो सबल बखानौ तोहिं॥

सूर ने प्रण कर लिया– जिन भगवान ने मेरी रक्षा की है, केवल उन्हीं का चिन्तन करूँगा। उनकी जीवनधारा ही बदल गयी। यही है **'जिस दिन से गये हो तुम, ये आँखें तरसती हैं।'** सूरदास की आँखें फूट गयी थीं, फिर भी आँखें उन्हें देखने को तरस रही थीं।

सूरदास वृन्दावन पहुँच गये। जीवनभर नर्तकियों और गवैयों का साथ था। राग-रागिनियों का उन्हें अभ्यास था। उनका अपना गला भी बहुत सुरीला था। लोगों ने उन्हें रासबिहारीजी के मन्दिर में बैठा दिया। सूरदास तानपूरे पर भगवान की झाँकी का गायन करने लगे। बसन्त में भगवान को केसरिया वस्त्र, तो वर्षा में धानी रंग के वस्त्रों से उनका श्रृंगार होता था। जैसा श्रृंगार होता, सूरदास उसी का गायन अपने पदों में करते। लोगों को सन्देह हुआ कि यह सूरदास देखते हैं क्या! पुजारियों ने मन्त्रणा की कि आज भगवान को वस्त्र ही न पहनाया जाय। देखें, सूरदास आज क्या गाते हैं? उस दिन वस्त्र पहनाया ही नहीं गया। पुजारियों ने उनके मुख में कुछ मक्खन लगाकर छोड़ दिया। झाँकी खुलने पर सूरदास बहुत प्रसन्न हुए। मूर्ति की ओर मुँह कर उन्होंने गायन आरम्भ किया–

आजु हरि देख्यौं नंगम नंगा।
माखन चाटत करत उछंगा।......आजु हरि......

उस दिन भगवान का वही बालकोंवाला वेष था। सबने सूरदासजी को सविनय प्रणाम कर कहा– हमलोगों ने आपको साधारण-सा प्रज्ञाचक्षु समझ रखा था किन्तु आप तो वस्तुतः अन्तर्दृष्टिवाले महापुरुष हैं। फूलों के नीचे भगवान के एक पाँव में पैंजनी थी, आपने उसका भी वर्णन कर दिया। आप महान सन्त हैं। यह मन्दिर आपका है, हम सब आपके हैं। अब वह सामान्य गायक नहीं, सन्त हो गये। उनकी वाह्यदृष्टि का लोप हो गया था किन्तु भीतर की आँखें खुल गयी थीं। भगवान की कृपा का एक बार आस्वादन कर लेने के पश्चात् उनकी तड़प बढ़ गयी और भगवान को पाकर ही उन्होंने दम लिया।

यही दशा वृन्दावन के गोपियों की थी। अनेकानेक विपत्तियों से ब्रजमण्डल की रक्षा करनेवाले कन्हैया को चीरहरण और रासलीला प्रसंगों में जबसे उन्हें सर्वत्र व्याप्त देखा, गोपियों ने श्रीकृष्ण को आराध्य रूप में वरण कर लिया। इसीलिए जब वे वृन्दावन से मथुरा जाने लगे तो गोपियों से शीघ्र लौटने का वायदा किया किन्तु नहीं लौटे। फिर तो गोपियाँ अपना माखन-दूध-दही-पति-पुत्र – सब कुछ भूल गयीं और राधिका के संरक्षण में करील के कुञ्जों में अहर्निश श्रीकृष्ण की लीलाओं के चिन्तन में अनुरक्त हो गयीं।

एक बार भगवान अपना करिश्मा दिखाकर, अपना परिचय देकर, साधक को अपनी ईश्वरीय विभूति का स्वल्प भी भान करा दें, फिर तो साधक केवल उन्हें चाहेगा। सृष्टि में ऐसा कुछ भी नहीं है कि उसे भटकाये। और जब तक भगवान की ओर से कुछ प्रेरणा प्राप्त नहीं होती, कोई चमत्कार नहीं मिलता, तब तक साधक का प्रत्येक प्रयास अँधेरे में चलाया हुआ तीर है। उसे सन्देह बना रहता है कि भगवान हैं भी या नहीं! किन्तु जहाँ उसे प्रमाण मिला, उसके बाद वह केवल भगवान को ही चाहेगा।

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना।।

(मानस, 5/33/3)

प्रभु जब एक बार अपनी विभूति का परिचय देकर हट जाते हैं, त्रिलोक की सम्पत्ति भी रख दो, साधक उस ओर देखेगा नहीं, उसका स्पर्श भी नहीं करेगा। गोपियाँ अपना घर-द्वार, धन-वैभव सब कुछ भूल गयीं। उनके मन

में श्रीकृष्ण का विरह मात्र था। एक दिन वह साधारण-सी ग्वालिनें श्रीकृष्ण के सर्वोपरि भक्तों की श्रेणी में आ गयीं। भगवान के यहाँ केवल भाव की, श्रद्धा की कीमत होती है और ज्योंही प्रभु का किञ्चित् भी चमत्कार देखने को मिला, साधक जग से एकदम उदास हो जाता है– **'उदासीनो गतव्यथः'** *(गीता, 12/16)* गुरु महाराज की 'बारहमासी' में है– **'जगत से रहना नित्य उदासी।'** यही इस भजन की पंक्ति का भी आशय है– **'आलम है उदासी का'** आलम का आशय है वातावरण, संसार से उदासीन और प्रभु के लिए विरह वेदना की बेचैनी! प्रभु के लिए उसके अरमान उमड़ते रहते हैं। यह स्थिति कब आती है? जब भगवान अपना कुछ परिचय दे दें। संसार में उन्हें आकर्षित करने की कोई वस्तु बची ही नहीं। आँखें प्रभु-दर्शन के लिए तरसने लगीं। जिस दिन से सूर का हाथ छुड़ाकर गये, गोपियों को आश्वासन देकर गये, उनकी आँखें तरसती ही रह गयीं।

मैकश के लबों से जब पीने की सदा आई।

मैकश माने शराबी होता है। एक शराब वह है जिसे दुनिया में लोग पीते हैं। इसी तरह से भजन भी एक नशा है और शराब से अधिक नशा इसमें है, जैसा कि गुरुनानक ने कहा है–

सभी नशे संसार के उतर जात परभात।
नाम खुमारी नानका चढ़ी रहे दिन रात॥

संसार के सभी नशे शाम को लेने पर सबेरे तक उतर जाते हैं। नशा उतर जाने पर लोग उसे पुनः ढूँढ़ने लगते हैं किन्तु नाम में ऐसी खुमारी है, ऐसा नशा है कि यह **'चढ़ी रहे दिन रात'**– कभी उतरती ही नहीं; क्योंकि इसका विधान ही ऐसा है कि,

जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय।
सुरत डोर लागी रहे, तार टूट ना जाय॥

जागृत अवस्था में प्रभु का सुमिरन करते रहना है और सोते समय भी प्रभु में लौ लगा लो, सुरत की डोरी लगी रहे, क्रम टूटने न पाये। इस प्रकार

का भजन भी एक नशा है और यह नशा तब चढ़ता है जब भगवान का कुछ चमत्कार देखने को मिल जाय। फिर तो भजन करनेवाला केवल उन्हें चाहेगा। यही इस पंक्ति में कहते हैं कि पीनेवाले के होठों से जब पीने की आवाज आयी कि मैं पीयूँगा, केवल भजन ही करूँगा, मैं अवश्य प्राप्त करूँगा तो,

मैखाना भी खाली है, बोतल भी तरसती है।

यहाँ सद्‌गुरु का दरबार ही मैखाना है क्योंकि भजन की जागृति सद्‌गुरु के बिना कभी किसी को नहीं होती। अच्छे-अच्छे विद्वान प्रायः गुरु महाराज से कहते थे कि उन्होंने संसार का सारा दर्शनशास्त्र पढ़ डाला, किन्तु साधन समझ में नहीं आता, भजन समझ में नहीं आता। महाराज जी उन्हें बताते थे– हाँ, हो! सब बात सब कोई जानत हैं, दो-दौ पैसे में वेदान्त बिकत है। लोग पढ़ते जा रहे हैं, पता नहीं क्या लिखते भी जा रहे हैं किन्तु साधना ही एक ऐसी वस्तु है जो लिखने में नहीं आती, वाणी से कहने में नहीं आती है। हम जो कह रहे हैं, इससे भी नहीं मिलेगा। वह किसी अनुभवी महापुरुष द्वारा किसी-किसी अनुरागी के हृदय में जागृत हो जाया करती है। जिसकी किसी अनुभवी महापुरुष सद्‌गुरु में श्रद्धा से डोरी लग गयी, उनके द्वारा बतायी गयी साधना और उन महापुरुष की टूटी-फूटी सेवा पार लग गयी तो भजन जागृत हो जायेगा।

श्रीरामचरितमानस का एक प्रसंग है। भगवान श्रीराम पंचवटी की पर्णकुटी में बैठे थे। उसी समय अनुज लक्ष्मण ने उसने परमार्थ विषयक कई प्रश्न किये। भारत में सामान्य कृषक भी जब दोपहर में वृक्ष के नीचे बैठते हैं, आपस में हरिचर्चा या भजन की विधि पर प्रश्नोत्तर होता है, शिक्षाप्रद कहानियाँ होती हैं, सत्संग चलता है; जबकि विदेशों में आपस में मिलने पर लोग राजनीति, व्यवसाय, षड्यन्त्रों की चर्चा में व्यस्त रहते हैं। लक्ष्मण ने कई प्रश्नों के साथ यह भी पूछा– **'कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया।'** ***(मानस, 3/13/8)***– वह भक्ति बताइए जिससे आपकी कृपा प्राप्त होती है?

भगवान राम ने कहा– **'भगति तात अनुपम सुख मूला।'** ***(मानस, 3/15/4)***– हे तात! अनुपम सुख का मूल तो भक्ति है। लक्ष्मण ने कहा–

प्रभो! उसे मुझे प्रदान कर दें। भगवान ने कहा– लक्ष्मण! उसे सीधा तो मैं भी नहीं दे सकता। वह तो **'मिलइ जो सन्त होइँ अनुकूला।'** वह मिलेगी तभी जब सन्त अनुकूल हों। सन्त का मिलना ही पर्याप्त नहीं है, जब सन्त अनुकूल हो जायँ, भक्ति तो तभी मिलेगी। किताबें तमाम थीं, उपदेश भी तमाम थे, भगवान भी उपदेश ही कर रहे थे किन्तु भक्ति अर्थात् अन्तःकरण से भजन की जागृति बिना किसी तत्त्वदर्शी सद्गुरु के नहीं मिलेगी। गुरु का द्वार ही वह मयखाना है जहाँ ईश्वरीय नशा भजन की जागृति संभव है। मान लें, गुरु के दरबार में पहुँच ही गये लेकिन,

मैखाना भी खाली है, बोतल भी तरसती है।

गुरु के दरबार में पहुंच भी गये लेकिन यह नशा ऐसा नहीं है कि बाल्टी भरकर उड़ेल दिया जाय, यह शनैः-शनैः आता है। इसके लिए आप सद्गुरु की सेवा करो, उनकी आज्ञा का पालन करो। उनके निर्देशन के अनुसार साधना सुमिरन करते-करते भजन का नशा शबाब पर आता है। इसलिए पहुँचने पर भी आरम्भ में हमारे लिए **'मैखाना भी खाली है, बोतल भी तरसती है।'** दुनिया में शराब बोतलों में भरी जाती रही है किन्तु ईश्वरीय नशे के लिए वृत्ति ही बोतल है। इष्टोन्मुखी लगन है, तड़पन है, सब कुछ है लेकिन वृत्ति भजन में टिकती ही नहीं। वृत्ति में तड़प है कि मै (मदिरा) अवश्य प्राप्त कर लें। इसके लिए साधक कभी उपवास करता है, कभी प्रार्थना करता है लेकिन वृत्ति में भजन नहीं टिकता इसलिए **'बोतल भी तरसती है'**। तब साधक करे क्या? उसकी वृत्ति में भजन कैसे स्थायित्व ले? इस पर कहते हैं–

मैखाने के अन्दर ही रहने दे मुझे साकी।

साकी कहते हैं मदिरा पिलानेवाले को। मधुशाला में वेतनभोगी कोई भी व्यक्ति शराब दे देता है किन्तु भजन की जागृति, भजन में साधक को उत्तरोत्तर संरक्षण प्रदान कर लक्ष्य तक ले चलना सद्गुरु की देन है। सद्गुरु ही भजन में खुमारी प्रदान करनेवाले हैं, वही साकी हैं इसलिए साधक प्रार्थना करता है कि उसे मयखाने के अन्दर अर्थात् गुरु दरबार की परिधि में ही रहने दिया जाय; क्योंकि **'मैखाने के बाहर तो इक आग बरसती है'**– गुरु दरबार

से बाहर संसार में लोभ-मोह, राग-द्वेष, आशा-तृष्णा-लिप्सा की एक लपट उठती रहती है, विषय की ज्वाला भड़कती रहती है–

मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं एहिं सर परई॥

(मानस, 1/34/8)

मनरूपी हाथी विषयरूपी दावानल में रात-दिन झुलसता रहता है। यह सुखी हो जाय, यदि इस भक्तिरूपी जल में अवगाहन कर ले। इसीलिए साधक सद्गुरु से निवेदन करता है कि उसे दरवाजे पर पड़े रहने दिया जाय। बाहर संसार में आशा-तृष्णा की आग बरस रही है। एक काम पूरा हुआ, दूसरा तैयार, तीसरा तैयार, चौथा तैयार...... इतने में बुढ़ौती आ गयी। जबरदस्ती! त्रितापों में से कोई न कोई पीछा करता ही रहता है– **'दैहिक दैविक भौतिक तापा।'** *(मानस, 7/20/1)* लगे रहते हैं किन्तु गुरु दरबार में टूटी-फूटी साधना, सेवा करते-करते एक स्तर ऐसा आता है कि–

मैं शह्रे खमोशाँ से गुजरा तो सदा आयी।

एक दिन संस्कारों की भीड़ से भरा अन्तःकरण 'शह्रे खमोशाँ' अर्थात् कब्रिस्तान जैसा शान्त हो जाता है। एक माताजी मुम्बई से आती हैं। वह कह रही थीं– महाराजजी! जब हम भजन करने बैठते हैं तो मन बतियावत बहुत है। रोटी सेंकते समय मन में दूसरी बातें नहीं आतीं, और सभी कार्यों में यह नहीं भागता लेकिन भजन में बैठने पर भजन के अतिरिक्त दूसरे विचार मन में उमड़ने-घुमड़ने लगते हैं। एक दूसरे ने अपना अनुभव बताया कि भजन करते समय प्राण जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहता है। ऐसा इसलिए होता है कि अन्तःकरण में संस्कारों की भीड़ लगी हुई है, लेकिन सद्गुरु के दरबार में रहते बन गया तो वृत्ति शान्त प्रवाहित होने लगती है। जब साधक इस खमोशाँ अर्थात् शान्त वृत्ति की अवस्था से गुजरता है तो भगवान देखरेख करने लग जाते हैं, भगवान की ओर से आवाजें आने लगती हैं कि,

आहिस्ता चलो लोगों दीवानों की बस्ती है।

भगवान साधक को सचेत करने लग जाते हैं। इसका यह आशय नहीं है कि साधक कुछ पा गया है। इसका अर्थ केवल इतना है कि अब साधना

पकड़ में आने लगी है, ध्यान लगने लगा है। किन्तु ध्यान ही हमारा उद्देश्य नहीं है। ध्यान की परिपक्व अवस्था में जो लक्ष्य विदित होगा, हमारा उद्देश्य वह है। जब तक लक्ष्य परमात्मा प्राप्त न हो जाय, तब तक आहिस्ता चलो, धीरे-धीरे किन्तु लगातार चलते रहो, सचेतावस्था में चलो, सावधान रहकर चलो; क्योंकि यह स्तर दीवानगी का है। विरही, अनुरागी, दीवाना इस पथ में पर्याय हैं। जब चित्तवृत्ति शान्त प्रवाहित हो, साधक को और भी सावधान होकर चलना चाहिए। यह दीवानों का क्षेत्र है, एक प्रभु के पीछे लौ लगानेवाले विरहियों की बस्ती है। विरही का चित्त ही एक लक्ष्य के चिन्तन में प्रवाहित होता है। वह एक प्रभु के चिन्तन में ही डूबता हुआ चलता है।

एक गुरु ने शिष्य से कहा– ''बेटा! इस पेड़ पर चढ़ जा।'' शिष्य वृक्ष पर चढ़ने लगा। गुरु ने कहा– ''एकदम ऊपर तक चढ़ जा।'' शिष्य शीर्षस्थ चोटी पर चढ़ गया। शिष्य ने पूछा– ''गुरुदेव अब?'' उन्होंने कहा– ''उतर आ।'' और अपने ध्यान में बैठ गये। जब शिष्य की दृष्टि नीचे गयी तो वह काँपने लगा। इतने ऊँचे वृक्ष से चिपकते हुए, सँभलते, खिसकते-खिसकते पर्याप्त नीचे तक उतर आया। जब जमीन की सतह दस फीट रह गयी होगी तो गुरुजी चौंक पड़े। अपना भजन बन्द कर उन्होंने शिष्य को ललकारा– ''सावधान! देखो वह डाल पकड़ लो, उस खूँटी पर पाँव चिपका लो।'' शिष्य धीरे-धीरे नीचे उतर आया। गुरु महाराज को प्रणाम कर वह बोला– ''ऊपर जहाँ मुझे गिरने की अधिक संभावना थी, आप आँख बन्द कर बैठे थे। जब केवल दस फीट रह गया तो 'सावधान, खूँटी पकड़, डाल पकड़, चिपक कर चल'। ऐसा क्यों?''

गुरु महाराज ने कहा– बेटा! उस ऊँचाई पर तू स्वयं सावधान था। नीचे आने पर तू लापरवाह हो चला था कि अब कितना रह गया? अब तो आ गये। इसी अवस्था में माया कामयाब होती है– **'छोरत ग्रन्थि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया।।'** *(मानस, 7/117/6)*– माया देखती है कि यह प्राणी हमारे चंगुल से निकला जा रहा है, बन्धन छूटने ही वाला है तब वह **'बिघ्न अनेक करइ तब माया।'**– एक नहीं अनेक

विघ्न उपस्थित करती है। **'कल बल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा॥'** *(मानस, 7/117/8)*– वह माया कल करेगी, छल करेगी, बल करेगी; जीव को उलझाने के लिए, नष्ट करने के लिए हर हालत में करीब पहुँचेगी। फिर भी जीव यदि उसके आकर्षण में नहीं फँसा, वह एक सूक्ष्म दाँव और चलती है–

रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई॥

(मानस, 7/117/7)

वह ऋद्धियाँ प्रदान करेगी, यहाँ तक कि सिद्ध बना देगी। भगवान कभी किसी को सिद्ध नहीं बनाते। बन्धन छूटने का जब समय आता है, माया ही चमत्कार जैसा थोड़ा चारा फेंक देती है। ऐसी स्थितिवाला साधक बगल से निकल भर जाय तो मरणासन्न रोगी भी जी उठेगा, श्वास बन्द हो गयी हो तो लौट आयेगी। श्वास भले ही लौट आये, उसका स्वरूप वही है, साधक का स्तर वही है; किन्तु जहाँ उसने सोचा कि ऐसा तो हमारे पराक्रम से हो गया तो माया कामयाब हो गयी। कुछ दिन तक ऐसे चमत्कार होते रहेंगे किन्तु कुछ ही काल पश्चात् कहीं कुछ नहीं रह जाता।

ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा॥

(मानस, 7/117/14)

जो थोड़ा-बहुत चमत्कार मिला था वह भी समाप्त और बन्धन भी नहीं छूटा। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि ने साधकों को सचेत किया– **'व्युत्थाने सिद्धयः'** *(पातञ्जल योगदर्शन)* सिद्धियाँ प्रकट होती हैं तब वे तो वास्तव में सिद्धियाँ हैं किन्तु कैवल्य-प्राप्ति के लिए यह उतना ही बड़ा विघ्न हैं जितना काम-क्रोध-लोभ इत्यादि। इसलिए जब थोड़ी ही दूरी रह जाती है, सँभलकर चलना पड़ता है। **'आहिस्ता चलो लोगों दीवानों की बस्ती है'**– सूझ-बूझ से, सचेतावस्था में जागरूक रहकर चिन्तन में डूबकर चलना है। यह विरही लोगों की अवस्था है। इस अवस्था के पश्चात् साधकों के चतुर्दिक भीड़ उमड़ने लगती है, किसी को वह स्वप्न में दिखायी देते हैं तो उनके सान्निध्य में अप्रत्याशित घटनाएँ घटने लगती हैं।

दुनिया की निगाहें तो जहरीली हैं नागिन सी,
मैं दूध पिलाता हूँ फिर भी मुझे डसती हैं।।

दुनियावालों की हर निगाह इस अवस्था के साधक के लिए नागिन-सी जहरीली होती हैं। दूध पिलाने पर भी डसना ही उनका स्वभाव है। अनुसुइया के घनघोर जंगल में दूर-दूर तक बस्ती नहीं थी। जंगली कोल-भील और दूरदराज के गाँवों से लोग अपना दुःख-दर्द लेकर पहुँचते ही रहते थे। वे कहते– "महाराज! मैं तो मर रहा हूँ, लगता है प्राण नहीं बचेंगे। मलेरिया बुखार तीन महीने से आ रहा है।" दयार्द्र होकर महाराज पूछते– "कितने दिन पर बुखार आता है?" कोई अँतरा, कोई तिजारी, कोई चौथिया बताता अर्थात् दूसरे दिन, तीसरे दिन और किसी को चौथे दिन नियमित बुखार आता था। महाराज जी उससे कहते– "अच्छा, धूनी पर कर प्रणाम! खा विभूति!"- ज्योंही वह प्रणाम के लिए शिर झुकाता, विभूति खाता, महाराजजी उसे एक छड़ी मार देते थे। वह बेचारा सिकुड़कर बैठ जाता था।

महाराजजी उससे पूछते– "हाँ, बताओ अब बुखार आने की बारी कब है?" वह कहता– "महाराजजी, कल है।" महाराजजी उससे कहते– "अच्छा! पारी बिताकर आना। देखो क्या होता है!" दूसरे दिन उसे बुखार न आता, तो अगले दिन वह दूध-दही कुछ लेकर महाराजजी की सेवा में आकर कहता– "महाराज! बुखार तो नहीं आया।" महाराज उसे सान्त्वना देते– "जाओ बेटा! गया बुखार।" इस प्रकार के हजारों रोगी महाराजजी के पास आते। कोई बुखार, कोई टी.बी. का रोगी, और भी कई तरह के रोगी! महाराज उन्हें छड़ी से छू भर देते, रोग समाप्त हो जाता।

एक दिन महाराजजी ही ज्वराक्रान्त हो गये। डेढ़ वर्ष तक बुखार बना ही रह गया। महाराजजी सोचते, जब हमारे पाप समाप्त हो गये तो यह बुखार क्यों आ रहा है? दो-एक अच्छे वैद्य-डॉक्टर दवा रख जाते किन्तु उधर देखते ही महाराज को अपशकुन हो। भगवान का संकेत था कि दवा छूना मत! चार-छः महीने पश्चात् वैद्य-डॉक्टर पुनः आते तो उनकी दवा वहीं रखी मिलती। शीशियों के ऊपर गर्द पड़ी रहती। वह कहते– "महाराजजी! दवा तो

लेना चाहिए था। देखिए, आपका स्वास्थ्य कितना खराब हो गया है। आपको भयंकर मलेरिया है, तिल्ली बढ़ गयी है, लीवर कमजोर है।'' फिर वे दवा बदलकर रख दें किन्तु भगवान मना करते ही रहे।

एक दिन महाराजजी को इतना बुखार चढ़ा कि प्यास के मारे मानो दम निकला जा रहा हो। महाराजजी घिसटते-घिसटते मंदाकिनी नदी के किनारे जाते, दो-चार चुल्लू पानी पीते, एक खप्पर में भरते, अन्य कोई पात्र भी नहीं था। पुनः बैठकर खिसकते-खिसकते आसन तक आते तो पुनः प्यास तड़क जाती। वह खप्पर का जल पी लेते। पुनः वैसी ही प्यास! उस दिन महाराज जी चार पलोटन नदी तक गये और आये। इतने में वह पस्त हो गये। ज्वर के आवेग में उन्होंने भगवान को भी उलाहना दे डाला कि 'जब हमारी निवृत्ति हो गयी, पाप है ही नहीं तो मैं यह मरणान्तक कष्ट क्यों भोग रहा हूँ?'

उस दिन भगवान ने महाराजजी को बताया– ''जो लोगों को छूकर उनका बुखार उतार लेते हो, उसे कौन भोगेगा?'' महाराज ने कहा– ''हमने तो कई हजार लोगों को छू दिया है। यह कब तक भोगना पड़ेगा?'' अनुभव में ही महाराजजी को एक काला-सा एक आँख का डुमार दिखाई पड़ा। उसके शरीर से बुखार जैसी दुर्गन्ध आ रही थी। उसने कहा– ''मालिक! तीन आना पैसा हमारा मिल जाय।'' महाराजजी ने पूछा– ''यह तीन आने क्या है? कैसे वसूल करोगे?'' उसने कहा– ''तीन महीने और बुखार।'' महाराज बिगड़े– ''धत् तेरे पापग्रह की! एक आने में एक महीना भोगावत है।''

महाराज ने लोगों से पूछा– ''हो! यह कौन महीना चल रहा है?'' लोगों ने कहा– ''महाराज! सावन लगा है।'' महाराज ने कहा– ''तो सावन, भादों और कुआर! कुआर में मेरा बुखार उतर जायेगा।'' महाराज अपने को समझाते थे– 'भोग लो परमहंसजी! जब बुखार उतारा है तो उसे भोगेगा कौन!'

यही आशय इन पंक्तियों का भी है कि **'दुनिया की निगाहें तो जहरीली हैं नागिन सी'**। नागिन के डसने से व्यक्ति अधिक से अधिक एक बार मर सकता है किन्तु साधक यदि दुनिया की निगाहों के झाँसे में आ गया तो कई जन्म लेना पड़ सकता है। सांसारिक लोग तरह-तरह की समस्या लेकर आते

हैं। किसी को लड़का नहीं है, किसी की कन्या का विवाह तो कहीं पदोन्नति का मामला, कहीं नौकरी नहीं लगी तो कहीं मुकदमेबाजी; दुनिया में और है ही क्या?

'मैं दूध पिलाता हूँ'– दूध का आशय क्या है? मानस में है–

जड़ चेतन गुन दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार।। *(मानस, 1/6)*

विधाता की सृष्टि गुण और दोषों से मिलकर बनी है। इसमें से सन्त ईश्वरीय गुणरूपी दूध को ग्रहण कर लेते हैं और प्रकृति के विकाररूपी वारि का त्याग कर देते हैं। इसी प्रकार साधक, जिनकी वृत्ति शान्त प्रवाहित है, जब 'शह्रे खमोशाँ' से गुजरते हैं तो भगवान उन्हें सचेत करते चलते हैं। दुनिया की निगाहें उसे डसने का प्रयास करती हैं किन्तु सन्त तो उन्हें दूध ही पिलाता है, उनके कल्याण का पथ ही प्रशस्त करता है, उनमें ईश्वरीय गुणों का ही सूत्रपात् करता है। **'फिर भी मुझे डसती हैं'**– लाख दूध पिलाये, ईश्वरीय गुणधर्मों का बीजारोपण करे, किन्तु समस्याएँ तो सामने आयेंगी ही।

इसीलिए साधक के समक्ष ईश्वर से न मिल पाने की उदासी का आलम बना रहता है। इष्ट को देखने की तड़प बनी रहती है। उधर इष्ट की कृपा भी बरसती रहती है किन्तु प्रभु की महिमा का परिचय मिलते ही साधक की तड़प बढ़ जाती है।

अपने युग के सर्वोपरि महापुरुष गोस्वामी तुलसीदासजी का बचपन अत्यन्त विपन्नावस्था में अनाथ बालक की तरह व्यतीत हुआ। युवावस्था में कहा जाता है कि बढ़ी हुई यमुना नदी को एक लाश के सहारे पार कर, दीवाल पर लटकते सर्प को पकड़कर रात के अँधेरे में अपनी पत्नी के कक्ष तक पहुँच गये। पत्नी ने पूछा– "आप यहाँ तक आये कैसे?" उन्होंने बताया– "तुमने रस्सी जो लटका रखी थी।" पत्नी ने पूछा– "नदी कैसे पार की?" तुलसी ने बताया– "एक लकड़ी का कुन्दा पकड़कर, लेकिन उससे दुर्गन्ध बहुत आ रही थी।" पत्नी को बहुत ग्लानि हुई। उसने कहा– "मुझसे मिलने के प्रयास

में आप दो बार मरने से बचे। इस क्षुद्र हाड़-मांस के पिंजरे के लिए इतना मोह! इसकी आधी भी लगन यदि भगवान से हो तो बेड़ा पार हो जाता।'' पहले तो तुलसी को कुछ समझ में ही नहीं आया। जब उसने दुबारा झिड़का तो उन्हें कुछ होश आया। जब यही तीसरी बार सुना तो तुलसी का विवेक जागृत हुआ, वह बोले– ''चुप-चुप! किसी से कहना नहीं कि तुलसी आया था।'' वह छत से नीचे कूदकर भाग गये, लौटकर घर गये ही नहीं।

तुलसी जा रहे थे काम की ओर, किन्तु निकल पड़े राम की ओर! वास्तव में शरीर में न काम है, न क्रोध, न लोभ है और न मोह! वृत्ति में ही सबकुछ है। इसे सन्मार्ग की ओर मोड़ने के लिए–

संगत ही गुन होत है, संगत ही गुन जाय।
बाँस फाँस अरु मीसिरी, एकै भाव बिकाय।।

मिश्री में लगी हुई बाँस की खपच्ची भी मिश्री के भाव में बिक जाती है। इसलिए उत्तम संगति करनी चाहिए। सर्वोपरि संगति सत्पुरुषों की है।

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई।।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ वेद न आन उपाऊ।।

(मानस, 1/2/5-6)

इन सबकी प्राप्ति का अन्य कोई उपाय न लोक में है, न वेद में है। किताब रटने से कुछ नहीं मिलेगा। किताबों का शिरमौर वेद है। गोस्वामीजी कहते हैं कि वेद में भी कोई उपाय नहीं है। सद्बुद्धि, कीर्ति, परमगति, ऐश्वर्य और कल्याण जब कभी किसी ने पाया है तो सत्संग से पाया है। एक प्रभु में श्रद्धा रखता हो, प्रभु के उस एक नाम का जप करें। चलते-फिरते, उठते-बैठते नाम याद आया करे तो सोने में सुहागा है।

।। ॐ श्रीगुरुदेव भगवान की जय ।।

बन्दगी हो तो उस शान की बन्दगी

प्रवचन से पूर्व पूज्य महाराजश्री निम्नांकित पंक्तियों को एक-एक कर गुनगुनाते गये, भक्तजन इसे दुहराते रहे–

ॐ जय गुरुदेवम् जय गुरुदेव......
ॐ अशरण शरण शरण प्रभु लेव......
ॐ जय गुरुदेवम् जय गुरुदेव......
गुरु राखइ जो कोप विधाता......
गुरु रुठे नहिं कोउ जग त्राता......
गुरु के वचन प्रतीति न जेही......
सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही......
ॐ जय गुरुदेवम् जय गुरुदेव......

(पुण्य सलिला जाह्नवी के रमणीय वाम पार्श्व में अवस्थित श्रीकृष्णानन्द, श्री भगवानानन्दजी महाराज जैसे ऋषियों की तपस्थली श्री परमहंस आश्रम जगतानन्द, बरैनी, मीरजापुर–उत्तर प्रदेश को सन् 1970 से 1995 ई0 तक पूज्य स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी महाराज के सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आश्रम से लगभग पाँच-सात सौ मीटर पूर्व गंगा तट पर ही हनुमानजी का वह प्राचीन मन्दिर है जहाँ बरैनी ग्राम निवासी प्रसिद्ध कथावाचक मानस मर्मज्ञ पं0 रामकिंकरजी उपाध्याय हनुमज्जयन्ती के अवसर पर एक सप्ताहपर्यन्त श्रीरामकथा का भव्य आयोजन करते थे जिसमें उपस्थित होकर दूर-दूर तक के कथावाचक, भजन-कीर्तन गायक-वादक तथा अखिल भारतीय कथा रसिक श्रोतागण अपने को धन्य मानते थे। नीरव रात्रि में उनका गायन, प्रवचन ध्वनिविस्तारक यन्त्र के माध्यम से आश्रम तक सुनायी पड़ता था और पूज्य महाराजश्री भी उन वैदुष्यपूर्ण प्रवचनों और भावपूर्ण भजनों को सुनने का लोभ संवरण नहीं कर पाते थे। वहाँ जबलपुर–मध्य प्रदेश से एक सूफी गायक प्रायः प्रतिवर्ष पधारते थे तथा लोगों के आग्रह पर यह पद सुनाया करते थे जो साधनापरक होने के कारण पूज्य महाराजश्री को भी प्रिय था।)

बन्दगी हो तो उस शान की बन्दगी,
सर झुके और जमाना बदलता रहे॥
जो हैं बेहाशी में होश में आयेंगे,
गिरनेवाले भी खुद ही सँभल जायेंगे।

चाँद ढलता रहे दिन निकलता रहे,
तुम न बदले जमाना बदलता रहे।
अब्र रोता रहे चाँद हँसता रहे,
हम न बदले जमाना बदलता रहे॥
बन्दगी हो तो.........

सामने मेरे आयें वे तो इस तरह,
उनका परदा रहे मेरा दीदार हो।
पास चिलमन के बैठे रहें इस तरह,
हुस्न छन छन के हममें समाता रहे॥
बन्दगी हो तो.........

आरजू-ए-सुकूँ इश्क की मौत है,
इश्क पारा है पारा मचलता रहे।
उनके कदमों पै ये सर झुका ही रहे,
हुक्म उनका दिलोजाँ पै चलता रहे॥
बन्दगी हो तो.........

प्रायः लोग भजन-पूजन करते ही रहते हैं किन्तु उसका परिणाम समझ में नहीं आता। यह अंधभक्ति किस काम की। हम इधर भक्ति करें, उधर सुनवाई हो तब सही हो। जब पुकार सुननेवाला कोई नहीं फिर तो यह एक जीवन काटना है, कोई भजन नहीं है। भजन का तात्पर्य होता है कि हम जितना करें, प्रभु की ओर से उतनी सुनवाई भी हो। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– जो मुझे जैसा भजता है, मैं भी उसे वैसे ही भजता हूँ। भक्त मेरी तरफ दो कदम बढ़ाता है तो उसकी ओर दो कदम मैं भी बढ़ाता हूँ,

जहाँ भगत मेरो पग धरे, तहाँ धरूँ मैं हाथ।
पाछे लागा सदा रहूँ, कबहूँ न छाड़ूँ साथ।।

आर्षग्रन्थों के अनेकानेक कथानकों से इसी तथ्य की पुष्टि होती है। द्वापर की घटना है। महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। भीम ने भगवान श्रीकृष्ण से पूछा– "भगवन्! इतनी अपार दौलत खर्च कर जो यज्ञ हो रहा है, यह सफल हुआ, इसकी क्या पहचान है?" भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– "भीम! सर्वोपरि महापुरुष जब यहाँ जूठन गिरा देंगे, आकाश में घण्टे बज उठेंगे, तब जान लेना कि यज्ञ सम्पन्न हुआ।" तत्काल चारो दिशाओं में रथ दौड़ाये गये। जितने भी विख्यात महात्मा थे, सब आ गये। सबने विधिवत् भोजन-प्रसाद ग्रहण किया किन्तु घण्टे नहीं बजे।

भीम ने कहा– "भगवन्! अब?" भगवान बोले– "इनसे भी श्रेष्ठ कोई महात्मा बच गया है।" लोगों ने कहा– "भगवन्! व्यास आये, समास आये, देवल ऋषि आये, धौम्य आये, शुक आये, नारदजी भी आ गये हैं; अब इनसे श्रेष्ठ संसार में कौन बचा है?" भगवान ने कहा– "काशी के सूपा भगत।" भीम तुरन्त रथ लेकर चल पड़े। उन्हें चिन्ता थी, यह यज्ञ जल्द खतम हो तो शिकार में जाऊँ! मस्त स्वभाव के भीम काशी पहुँचे। उन्होंने देखा– गंगा-स्नान कर धोती कंधे पर रख चन्दन लगाये भक्तलोग सीढ़ियाँ चढ़ रहे थे। भीम ने सोचा, संतों का हाल तो भगत लोग ही जानते हैं। इनसे पूछ लिया जाय।

उन्होंने कहा– "भक्तजनो! महान सन्त सूपा भगत कहाँ निवास करते हैं?" सब के सब बिगड़ खड़े हुए। उन्होंने कहा– "तू राजा-महाराजा-राजकुमार होकर किसके झाँसे में आ गये? वह तो डुमार है, चाण्डाल है, नीच है, अधम है। वह न तो राम-राम जपता है, न कानों से सुनता है। जब कहो कि 'बाबा, राम-राम कहो', वह घण्टे बजाकर भाग जाता है। सैकड़ों चितायें यहाँ नित्य ही जलती रहती हैं किन्तु उसे मौत भी नहीं आती कि काशी का पाप तो कम हो जाता।" सबने बड़ी खरी-खोटी सुनाया। भीम की श्रद्धा आधी हो गयी किन्तु वह आया ही उन्हीं के लिए था। वह उनका पता लगाते पहुँचा। वह सन्त गंगा तट की बालुका में पड़े हुए थे।

भीम ने सोचा, अब इसको कौन-सा निमन्त्रण दूँ? यह जहाँ तस्मई-मालपुआ का नाम सुनेगा, स्वयं ही उठकर भागने लगेगा। उसने कहा– "बाबाजी! चलिये, महाराज युधिष्ठिर के यहाँ यज्ञ हो रहा है, आपका निमन्त्रण है। मालपुआ है, दूध-दही की नदियाँ बह रही हैं।" उन महापुरुष ने देखा, एड़ी से चोटी तक सामने एक उद्दण्ड खड़ा है। न दण्ड न प्रणाम! वह बोले– "भैया! हमारी जाति ठीक नहीं है।"

भीम को बड़ा गुस्सा लगा। महान चक्रवर्ती सम्राट युधिष्ठिर का निमन्त्रण! मैं महापराक्रमी भीम इसे लेने आया। अब इस अघोरी का नखरा तो देखो! यह कहता है जाति अच्छी नहीं है। अरे, वह तो हम काशी में प्रवेश करते ही जान गये थे कि तुम कितने पानी में हो। इसके खा लेने से भी कौन-सा कल्याण होगा? भीम लौट गये।

भगवान ने कहा– "अर्जुन! तुम जाओ, अन्यथा यज्ञ को अधूरा ही समझो।" अर्जुन काशी आया। उन सन्त के चरणों में सादर प्रणाम किया, उन्हें उठाकर रथ में बैठाया, उन्हें लेकर चला आया। उन्होंने भी भोजन किया किन्तु घण्टे नहीं बजे। द्रौपदी ने कहा– "भगवन् अब?" श्रीकृष्ण ने कहा– "किसी की अश्रद्धा हो गयी होगी?" तब द्रौपदी ने कहा– "भगवन्! अश्रद्धा तो मुझे ही हो गयी है। हमने सोचा, इतने चोटी के महापुरुष आ रहे हैं इसलिए हमने स्वयं रातभर श्रम करके भोजन बनाया। हमने जीवन में जो भी पाककला सीखी थी, प्रसाद बनाने में सबकुछ उड़ेल दिया। यहाँ यह महाशय सभी व्यंजन एक साथ मिलाकर पशुओं के चारे की तरह बना लिया, जो कुछ इन्हें खाना था खा लिया और थाली सरका दी। मेरे बनाये पकवानों की इन्होंने कद्र नहीं की।" श्रीकृष्ण बिगड़े– "द्रौपदी! तुम्हारे पकवानों की प्रशंसा राजालोग करेंगे। यह तो महात्मा हैं। यह पकवान खाते ही नहीं। सूखी रोटी और पक्वान्न इनके लिए बराबर हैं। **'शरीरमाद्यम् खलु धर्म साधनम्'**– सर्वप्रथम शरीर ही धर्म का साधन है, माध्यम है। **'तन बिनु भजन वेद नहिं बरना।'** इसीलिए शरीर को रखने के लिए यह इसे थोड़ी-सी खुराक दे दिया करते हैं। स्वाद की ओर इनका चित्त है ही नहीं।"

द्रौपदी को आश्चर्य हुआ, दुनिया में ऐसे लोग भी हैं कि पकवान खायें और पता न चले। उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने पुनः विधिवत् भोजन बनाया और खिलाया। सूपा भगत ने दो ग्रास खाकर ज्योंही हाथ धोया, आकाश में घण्टा बज उठा, यज्ञ सम्पन्न हो गया। अस्तु, भगवान अपने भक्त को पहचानते हैं। उन्हें रिझाने के लिए प्रदर्शनी लगाने की कोई जरूरत नहीं है।

मस्जिद चढ़ कर मुल्ला कूके, क्या तेरा साहिब बहरा है।
चिउँटी के पग नूपुर बाजे, वह भी साहब सुनता है।।
ना जाने तेरा साहिब कैसा है?

आपके चित्त में कैसा भाव है? कब अभाव है? आप संकल्प बाद में करते हैं, वह पहले से ही जान जाते हैं। इसलिए,

बन्दगी हो तो उस शान की बन्दगी,
सर झुके और जमाना बदलता रहे।

बन्दगी में इतनी कशिश हो कि इधर हमारा शिर झुके और उधर जमाना अर्थात् समय बदल जाय, दुर्दिन सुदिन में बदल जाय। द्रौपदी के जीवन में भी विपत्ति आयी। महान पराक्रमी पाँचों शूरवीर पति गर्दन लटकाये बैठे थे, वयोवृद्ध भीष्म इत्यादि शुभचिन्तक भी जमीन झाँक रहे थे। जब कोई सहाना नहीं रहा तो उसने भगवान को पुकारा। साड़ियों का अम्बार लग गया और लाज भी बच गयी। अतः पूजा ही हो तो उस प्रभाव की हो कि हम पूजा करें और मन में जो इच्छा हुई उसी के अनुरूप व्यवस्था हो जाय। यही है **'बन्दगी हो तो उस शान की बन्दगी'**।

द्रौपदी ने भगवान को पुकारा किन्तु वहीं पर एक भक्त ऐसा भी था जिसने अपनी सुरक्षा के लिए भगवान को नहीं पुकारा और व्यवस्था हो गयी। दुर्योधन का एक अंतरंग नाई था। उसका नाम था नंदा। प्रातः युवराज को सजाकर राजसभा के लिए तैयार करना उसका काम था। आजकल शहरों में जो ब्यूटीपार्लर चलते हैं, यह आविष्कार युवराजों का चलाया हुआ है, बहुत पुराना है। नन्दा भी साज-सज्जा विशेषज्ञ था।

एक दिन बड़े सवेरे वह ड्यूटी पर जा रहा था। अभी वह घर से निकला ही था कि पाँच-सात सन्तों पर दृष्टि पड़ गयी। उसने उन्हें सादर नमन किया और उनकी सेवा में लग गया। उन्हें नहलाते-धुलाते, खिलाते और विदा करते तीन बज गये। अब उसे याद आया, मैं सुबह ड्यूटी में जा रहा था, अब तो तीन बज गये। वह दुर्योधन बड़ा दुष्ट है। मृत्युदण्ड से नीचे आज तक उसने किसी को कुछ दिया ही नहीं। आज मौत निश्चित है। फिर उसने सोचा, आज यह शरीर सन्तों की सेवा में काम आ गया। एक दिन तो इस क्षुद्र शरीर को छूटना ही था। वह उत्साह से राजमहल की ओर चला।

राजद्वार पर ही दुर्योधन मिल गया। उसने कहा– "अरे नन्दा! तुम लौटे कैसे?" नन्दा ने विचार किया, मैं तो आया ही नहीं था। यह व्यंग बोल रहा है। कुछ कोड़े मारकर छोड़ देता तो प्राण बच जाते। इतने में पाँच-सात मंत्री उधर से गुजरे। वह बोले– "नन्दा! तुम वापस क्यों आये, अभी तो गये हो। कुछ भूल गये क्या? नन्दा! आज तुम्हारे शरीर में वह मोहिनी थी कि हम देखते ही रह गये। हमलोगों की पलक हट ही नहीं रही थी।"

दुर्योधन बोला– "नन्दा! तुमने हमारी सेवा जीवनभर की किन्तु आज तुम्हारे हाथों के स्पर्श में जो आनन्द था, जो आह्लाद प्राप्त हो रहा था, मैं उसे भूल नहीं पा रहा हूँ। तुम मुझसे वरदान माँग लो।" नन्दा समझ गया कि मुझ क्षुद्र के प्राण को बचाने के लिए आज मेरे प्रभु को इस नीच, अधम और तुच्छ प्राणी के पाँव दबाने पड़े। उसके प्रेमाश्रु छलक आये। वह बोला– "युवराज! वर ही देना है तो मुँहमाँगा दो। दुर्योधन ने कहा– नन्दा! मैंने कर्ण को राजा बनाया है, दूसरा तुम्हें भी मैं राजा बना सकता हूँ। तुम चाहो तो सरसब्ज पंजाब प्रान्त ही माँग लो।" नन्दा ने अपना त्यागपत्र लिखा और कहा– "युवराज! मेरा त्यागपत्र स्वीकार करें। आज से मैं भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी की सेवा नहीं करूँगा।" धीरे-धीरे अन्य लोग भी समझ गये– **'आप बने हरि नाई नन्दा।'**

द्रौपदी ने करुण क्रन्दन किया कि 'प्रभो! बचाओ।', भगवान ने व्यवस्था कर दी। नन्दा ने कहा भी नहीं कि बचाओ, फिर भी भगवान ने पहले ही

सुरक्षा प्रदान कर दी। यह थी हृदय की पुकार! नन्दा का सिर झुक गया था उन चरणों में। कोई नहीं जानता था कि यह भी भक्त है; किन्तु भगवान तो हृदय की जानते हैं इसलिए ऐसी व्यवस्था दे देते हैं कि,

जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।।

(मानस, 7/113/4)

मन में जो इच्छा कर लोगे कि यह चाहिए, भगवान के कृपाप्रसाद से कुछ भी असंभव नहीं रह जाता; वैसी व्यवस्था हो जायेगी। इस स्थिति के महात्मा जहाँ भी रहते हैं, जहाँ से गुजरते हैं, उनके दर्शन से, स्पर्श से, वाणी से सबमें ईश्वरीय संस्कारों का सूत्रपात् हो जाया करता है।

जो हैं बेहोश होश में आयेंगे।
गिरनेवाले भी खुद ही सँभल जायेंगे।।

जो बेहोश हैं, होश में आ जायेंगे। सारा संसार बेहोश है–

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा।।

(मानस, 2/12/2)

मोहरूपी रात्रि में सबलोग अचेत पड़े हुए हैं। वे रात-दिन जो दौड़-धूप करते हैं, मात्र स्वप्न देखते हैं। कोई सपना घड़ी-दो घड़ी का होता है, यह साठ-सत्तर साल का है; फर्क इतना ही है। पुनः लौटकर कोई नहीं देखता कि हमारी अर्जित मान-मर्यादा, पद-प्रतिष्ठा का क्या हुआ!

एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी।।

(मानस, 2/12/3)

इस जगत्‌रूपी रात्रि में जहाँ सभी प्राणी निश्चेष्ट पड़े हुए हैं, संयमी पुरुष जग जाता है। इनके जागृति की प्रथम शुरुआत ऐसे महापुरुषों के दर्शन-स्पर्श और सान्निध्य से है अर्थात् **'जो हैं बेहोश वे होश में आयेंगे'**।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– **'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'** *(2/64)*– इस जगत्‌रूपी रात्रि में सभी प्राणी अचेत पड़े हैं, जैसा चीर-फाड़ घर में लोग लेटे रहते हैं। उनके पेट पर कैंची चल रही

है – बेहोश तो बेहोश! इसमें संयमी पुरुष जग जाता है– **'जो हैं बेहोश वे होश में आयेंगे'**– वे सचेत हो जायेंगे, ईश्वरीय पथ पर अग्रसर हो जायेंगे। वे अपने रास्ते को समझने लगेंगे। कभी-कभी लोग भगवत्पथ की कठिनाइयों से हताश हो जाते हैं कि यह तो बड़ा कठिन है, इस प्रकार जो लड़खड़ा गये हैं, वे हैं गिरनेवाले! वे **'गिरने वाले भी खुद ही सँभल जायेंगे।'** इस पथ पर चलते हुए जिनकी श्रद्धा डगमगा गयी थी, वह पुनः सचेत होकर सँभल जायेंगे। उनकी श्रद्धा पुनः स्थिर हो जायेगी। ऐसी स्थितिवाले साधकों में भगवान का पूर्ण प्रकाश तो नहीं रहता, किन्तु चाँद जैसी क्षीण आभा रहती है।

चाँद ढलता रहे, दिन निकलता रहे।

चन्द्रोदय रात्रि में होता है। **'या निशा सर्वभूतानां'**– जगत् एक रात्रि है। जगत्रूपी रात्रि में परमात्मा का क्षीण प्रकाश ही चन्द्रोदय है जिसमें रास्ते की पहचान हो सकती है, साँप-बिच्छू-गड्ढा-खूँटी दिखाई देते हैं। परमात्मा के इस क्षीण आलोक में जब-जब हमने पुकारा, भगवान ने सुनवाई कर ली किन्तु हमें तो पूर्ण प्रकाश की ओर चलना है। यदि हम राही हैं तो 'चाँद ढलता रहे, दिन निकलता रहे।' बन्दगी और प्रार्थना में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि हो। और इस प्रकार चलते-फिरते–

तुम न बदले जमाना बदलता रहे।

यदि तुम विचलित नहीं होगे, टेक लगाकर अडिग रह लोगे तो **'जमाना बदलता रहे'**– आपका समय बदलता चला जायेगा, दुर्दिन भी सुदिन में परिवर्तित होते जायेंगे।

अब्र रोता रहे, चाँद हँसता रहे।

अब्र कहते हैं बादल को! यह बादल है अविद्या का। जब तक अविद्या का अंधकार है, चिदाकाश में बादल छाया है, संस्कारों का आवर्त शेष है, जीव रोता ही रहेगा। संसार **'दुःखालयं अशाश्वतम्'** है। यहाँ रुदन है, आँसू हैं, कहीं तृप्ति नहीं है। **'राजा दुखिया परजा दुखिया, साधू के दुःख दूना।'** लोग गुरु महाराज से पूछते थे– "सरकार! आपको क्या दुःख है?"

गुरु महाराज कहते थे– ''लोग यहाँ आकर अपना दुःख बताने लगते हैं तो उनके दुःख से हम भी दुःखी हो जाया करते हैं।'' यही है–

राजा दुखिया परजा दुखिया, साधु के दुःख दूना।
आशा तृष्णा सब घट व्यापी, कोई महल ना सूना।।

आशा और तृष्णा सबके हृदय में व्याप्त हैं, कोई भी इनसे बचा नहीं। अविद्या का यही परदा, यही बादल जीव को रुला रहा है। दमिश्क शहर कभी यहूदियों की राजधानी थी। वहाँ के बादशाह ने स्वप्न देखा– मौत का पंजा उसके पीठ पर पड़ा। उसने कहा– ''तुम बड़े वेग से मेरे पास आओ, ठीक समय पर, ठीक जगह पर।'' बादशाह ने आँख घुमाकर मौत को देख लिया। वह काँप गया, सिहर उठा, निद्रा में ही बड़े जोर की चीख निकल गयी। तुरन्त खतरे का सायरन बज उठा, फौज तैयार हो गयी। सेनापतियों ने पूछा– ''जहाँपनाह! किधर से खतरा?'' बादशाह ने अपने स्वप्न को बताया– मौत का पंजा! सबकी गर्दन लटक गयी। कोई बाहरी शत्रु होता तो उस पर हमला करते। यहाँ लड़ें किससे?

सोच-विचारकर सेनापतियों ने कहा– ''जहाँपनाह! इस महल में जरूर कुछ न कुछ है। आप ऐसा करें कि किसी वेगशाली घोड़े से इस महल से जितना हो सके, दूर निकल जाइये।'' घोड़े का चयन भी सेनापतियों ने ही किया। उस पर चढ़कर बादशाह रात्रि के दो बजे ही महल से निकल पड़ा, भागता रहा। दोपहर की चिलचिलाती धूप में भी वह रेगिस्तान पार करता रहा। शाम होते-होते वह वृक्षों के एक हल्के-से झुरमुट में पहुँचा। अब न घोड़े में ही दस कदम चलने की ताकत रह गयी थी और न सवार में ही उसे हाँकने की ताकत शेष थी। वह घोड़े से उतरकर एक वृक्ष के तने का सहारा ले निढाल होकर बैठ गया। उसने सोचा– वाह! अब तो हम बहुत दूर आ गये। इतने में मौत का पंजा पीठ पर पड़ा। मौत ने कहा– ''ठीक! तुम बड़े वेग से आये, ठीक समय पर आये और ठीक जगह पर आये।'' बादशाह के प्राण पखेरू उड़ गये।

इसी प्रकार रावण! **'भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र।'** *(मानस, 1/182-क)* लेकिन एक औरत की कमी लेकर बेचारा मर गया। कोई अरबपति है तो दुःख भी उसी स्तर का; गरीब के पास गरीब स्तर का दुःख। कबीर कहते हैं- **'यह संसार बहुत दुख खानी। तब बचिहौ जब रामहिं जानी॥'** धरती से आकाश तक कब्जा कर लो तब भी रुदन ही हाथ लगेगा। **'अब्र रोता रहे'**- सब जगह रुदन है; किन्तु **'चाँद हँसता रहे'** जहाँ प्रभु का क्षीण भी प्रकाश है, भजन जागृत है, इष्टदेव रथी हैं, वहाँ भक्त सदैव आह्लादित रहता है-

जे जन भींगे राम रस, विकसित कबहुँ न रूख।
अनुभव भाव न दरसिये, तेहि नर सुख न दुःख॥

जो कोई भी जन, जो सेवक राम के रस में सराबोर हो गया, वह सदैव विकसित रहता है। **'कबहुँ न रूख'**- उसके जीवन में उदासी आती ही नहीं। किन्तु हमारे भावों के साथ-साथ अनुभव न दिखाई पड़े, भगवान हृदय से योगक्षेम न प्रदान करें कि अब यह गलत है, यह सही है, इधर पाँव मत रखो, यह संकल्प गलत है, अब यह बन्द करो; जब तक वह ऐसा न पढ़ायें तब तक उस सेवक के लिए न सुख है न दुःख है। वह साधारण जीवमात्र का भोग भोग रहा है।

'अब्र रोता रहे'- चिदाकाश की बदली भले ही रुलाती रहे, **'चाँद हँसता रहे'**- क्षीण प्रकाश ही सही, यदि साधना जागृत है और **'हम न बदले'**- टेक के साथ लगे ही रह गये, तो **'जमाना बदलता रहे'**- परिस्थितियाँ अनुकूल होते देर नहीं लगती। मीरा को जहर दिया गया, शूली पर लिटाया गया, सर्प से कटवाया गया, देशनिकाला दिया गया। प्रह्लाद के साथ क्या नहीं हुआ? दहकते हुए स्तम्भ से उसे चिपकाया गया; किन्तु वह अपनी टेक से विचलित नहीं हुआ। माया परीक्षा ले सकती है, मिटा नहीं सकती। साधक की केवल श्रद्धा स्थिर रहनी चाहिए और साधना-अभ्यास में कमी नहीं आनी चाहिए। यदि हम अपनी साधना से, समर्पण से विचलित नहीं हुए तो दुर्दिन सुदिन में बदल जायेगा,

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई।।

(मानस, 5/4/2)

विष अमृत में परिवर्तित हो जायेगा, अथाह भवसागर गोपद जितना रह जायेगा,

गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाहीं।।

(मानस, 5/4/3)

गरुड़जी! सुमेरु पहाड़ सिर पर आनेवाला होगा तो आयेगा अवश्य! किसी ने उसे आपके ऊपर फेंका नहीं है। वह किसी युग-जमाने की आप ही की कमाई है। वह संस्कारों की रील में था इसलिए आ रहा है। वह आयेगा जरूर! यदि वह न आये तो आप पता ही कैसे पाओगे कि ऐसी विपत्ति भी आनेवाली थी, लेकिन विपत्ति का सुमेरु भी रजकण होकर, भारहीन होकर निकल जायेगा। आपकी समय-सारिणी ही बदल जायेगी।

भगवान दर्शन देते हैं। चिन्तन का स्तर उन्नत होने पर भगवान सामने प्रकट होते हैं। गुरु महाराज से लोग पूछते थे– "महाराज! क्या भगवान मिलते हैं?" वह बताते थे– "हाँ हो! अधिकारी होई तो अवश्य मिलेंगे। अधिकारी को न मिले तो वह प्राण दे देगा। मिलेंगे क्यों नहीं! हमें मिलकर ही सान्त्वना दिया है, स्थिति दिया है भगवान ने। वह अवश्य मिलेंगे; केवल विरह वैराग्य चाहिए, टेक चाहिए।"

सामने मेरे आयें तो इस तरह
उनका परदा रहे मेरा दीदार हो।

प्रभु यदि मेरे सामने आयें तो इस खूबी से आयें, इस ढंग से आयें कि उनका परदा भी बना रहे किन्तु मुझे उनका दीदार होता रहे। उस परदे से जो स्वरूप निखरकर आये, वह हमारा हो। क्या है उनका परदा?

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।। *(गीता, 2/24)*

भगवान अच्छेद्य हैं, उन्हें शस्त्र नहीं काट सकते। वह अदाह्य हैं, अग्नि उन्हें जला नहीं सकती। वह अक्लेद्य हैं, जल उन्हें गीला नहीं कर सकता।

अशोष्य हैं, वायु सुखा नहीं सकती। आकाश उन्हें अपने में समाहित नहीं कर सकता। वह शाश्वत हैं, सनातन हैं, कण-कण में व्याप्त हैं। इन विभूतियों का तो परदा रहे और उस परदे में से जो स्वरूप निखरकर आये, वह हमारा हो अर्थात् भगवान की भगवत्ता हममें प्रवाहित होती जाय। अन्त में होता भी ऐसा ही है कि **'जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।'** *(मानस, 2/126/3)* किन्तु साधक में धैर्य होना चाहिए, स्थिरता होनी चाहिए।

पास चिलमन के बैठे रहें इस तरह
हुस्न छन छन के हममें समाता रहे।

झीने परदे को चिलमन कहते हैं, चिक कहते हैं। साधक का कर्त्तव्य होता है कि वह चिलमन के पास, प्रभु के परदे के पास इस सचेतावस्था में बैठे कि **'हुस्न छन छन के हममें समाता रहे'**– प्रभु की प्रभुता छन-छन हममें संचारित होती जाय, हम उससे आप्लावित होते जायँ। **'सर झुके औ जमाना बदलता रहे'**– अभी राजस्थान से एक भाविक का फोन आया। हमने पूछ लिया– "खेती-बाड़ी कैसी है?" वह बोले– "जमाना अच्छा है, इस साल बहुत फसल है तो जमाना अच्छा है।" जमाना माने समय! बन्दगी में इतना भाव हो कि आपकी परिस्थितियों में सुधार होता जाय। प्रायः लोग भजन करते हैं किन्तु सुननेवाला कोई नहीं, तब तो उत्साह भंग हो जायेगा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भगवान से मनौती करते फिरे। भगवत्पथ में माँगना नहीं चाहिए। जीव में क्षमता ही नहीं कि वह सत्य या कल्याण को माँग सके। वह जब माँगेगा, अपने लिए फन्दा माँग लेगा। नारद देवर्षि पद पर थे। एक बार उन्होंने भी माँगा तो अपने लिए बेड़ियाँ माँग लिया। वह तो भगवान ही रक्षक थे, उन्होंने नारद को बचा लिया। इसीलिए अगली पंक्ति में है–

'आरजू-ए-सुकूँ इश्क की मौत है'

आरजू अर्थात् मिन्नत, निवेदन कि प्रभो! हमें यह सुख मिल जाय, वह हो जाय, वह ठीक हो जाय, सुकून मिल जाय– सुख के लिए निवेदन– यह तो इश्क की हत्या है। इश्क अर्थात् प्रेम, श्रद्धा। यह तो प्रेम की मौत है। एक भक्त ने कहा–

मैं अगर माँगू तुझे कुछ न देना तुम मुझे,
वरना मैं आशिक नहीं, मजदूर ही रह जाऊँगा।

प्रभो! प्रभो मैं कदाचित् भूल कर बैठूँ, आपसे कुछ माँग ही लूँ किन्तु आप देने की भूल मत करना। हमें आप कुछ देना ही नहीं अन्यथा मैं आपका आशिक नहीं, मजदूर हो जाऊँगा। दिनभर किसी ने श्रम किया और शाम को कुछ माँग लिया, यह तो–

जप तप करके स्वर्ग कमाना, यह तो काम मजूरों का।
देना सब कुछ लेना कुछ नहीं, बाना झाँकर झूरों का।।

जप किया, तप किया और कहा– प्रभो! स्वर्ग दे दो। यह तो मजदूरों का कार्य है, बड़े निचले स्तर की बात है। यहाँ तो मन-वचन-कर्म से सर्वस्व समर्पण कर दो और बदले में कुछ भी मत माँगो। और बाना कैसा हो? भगवान चाहे टाट में रखे या ठाठ में; यही है **'बाना झाँकर झूरों का'**। कभी मुट्ठी भर चना, कभी घी घना तो कभी चनउ मना। जिस भी ढंग से भगवान रखें, वही वेष अच्छा होता है। वही देश अच्छा होता है जिसमें वैराग्य की भली प्रकार रक्षा हो सके अन्यथा वहाँ से तुरन्त हट जाना चाहिए। इसलिए यह सुख मिले, वह सुख मिले– कुछ माँग ही लिया तो प्रेम की हत्या हो गयी। प्रेमी माँगता कुछ नहीं। वह मन-वचन-कर्म से समर्पण कर बदले में प्रेमास्पद को प्रसन्न देखना चाहता है। वह कुछ माँगता नहीं बल्कि सर्वस्व सौंप देता है।

इश्क पारा है पारा मचलता रहे।

पारा अत्यन्त चंचल होता है, पकड़ में नहीं आता। उसे जमीन पर गिराएँ, मिट्टी में लिप्त नहीं होता। पानी में उसे डालें, वह अलग ही रहेगा। वह सदैव हिलता रहता है, मचलता रहता है। प्रेम भी पारे की तरह है। मन के अंतराल में प्रेम का पारा सँजोया गया है किन्तु थोड़ी सी ठेस लगने पर वह इधर से उधर घूम जाता है। बच्चे के पेट में दर्द हुआ तो कहेंगे– प्रभो! अब तो यही ठीक कर दो। प्रेम इतना नाजुक होता है। वह मचलता रहता है। अब हम अपनी वृत्ति में प्रेम को कैसे बनाये रखें? इस पर कहते हैं–

उनके कदमों पे ये सिर झुका ही रहे,
हुक्म उनका दिलो जाँ पै चलता रहे।

उन प्रभु के चरण-कमलों में '**यह सर झुका ही रहे**', कभी उठे ही न। श्रद्धा बहकने न पाये। ऐसा नहीं कि– भगवन्! यह ठीक नहीं, यह ठीक। तब तो आपका सिर उठ गया। समर्पण भाव सदैव बना ही रहे और '**हुक्म उनका**'– भगवान आदेश देते हैं। उनका हुक्म अन्तःकरण पर और उसकी भी गहराई पर निरन्तर चलते रहना चाहिए।

हुक्मे अन्दर सब कोइ हुक्मे बाहर न कोय।
नानक हुक्मे जे बुझे हउ मैं कहै न कोय॥

हुकुम के अन्दर सबको रहना है। हुकुम के बाहर जानेवाला कहीं कभी कुछ पाता ही नहीं। '**हुक्मे बाहर न कोय**' कुछ है ही नहीं। नानक कहते हैं– जो आदेश को पहचान ले तो '**हउ मैं कहे न कोय**'– मैं भी कुछ हूँ, कोई नहीं कहेगा। वह जानता है कि कर्त्ता-धर्त्ता तो प्रभु स्वयं हैं।

गुरु महाराज कहा करते थे– उस जगह भगवान ने हमें पतित होने से बचा लिया। वहाँ भगवान ने हमको यह कहा, भगवान ने वह कहा। पाँच-सात दिन ऐसा सुनने के पश्चात् हमने पूछा– "महाराज! क्या भगवान बातें करते हैं?" वह बोले– "हाँ हो! भगवान ऐसे ही बतियावत हैं जैसे हम-तुम बैठ के बतियाईं। घण्टों बतियाईं और क्रम न टूटे। किन्तु इसके लिए विरह-वैराग्य चाहिए, अनुराग चाहिए, लौ चाहिए। हर समय नाम-रूप-लीला-धाम में कहीं न कहीं सुरत लगी ही रहे। मन को छुट्टी मत दो। भजन से छुट्टी दोगे तो यह मन माया में ही तो जायेगा। मन एक ऐसा यंत्र है कि कभी छुट्टी लेता ही नहीं। जहाँ इसने भजन छोड़ा तो स्वतः माया में कार्य करने लगेगा। ज्यों-ज्यों लौ (लगन) में डूबोगे, त्यों-त्यों भगवान तुमसे बातें करेंगे। वह तुम्हें उठायेंगे-बैठायेंगे, भजन करायेंगे, भजन सिखायेंगे और बेटा! तुम्हें वे निर्विघ्न ले चलेंगे। फिर तो '**काल न खाय कलप नहिं व्यापे देह जरा नहीं छीजे।**"

इतना सुनकर हम उदास हो गये। भजन तो जैसे-तैसे हम कर लेंगे लेकिन बात करने के लिए भगवान को कहाँ पाये? पन्द्रह मिनट के बाद गुरु

महाराज बोले– "काहे घबड़ात है, तोहूँ से बतियैहैं!" आश्वासन तो मिल गया किन्तु भूखा तो तभी सन्तुष्ट होता है जब कुछ पेट में जाय।

तीन महीने बीत गये। इसके बाद भगवान का प्रेरणास्रोत जब आरम्भ हुआ, हमने सोचा हमें कोई रोग हो गया। तुरन्त जाकर हमने गुरु महाराज से कहा– "गुरु महाराज! एँड़ी से चोटी तक आधा-आधा इञ्च पर पूरा अंग फड़कता है, कभी दाहिना कभी बायाँ। यह क्या है? हमें कोई बीमारी तो नहीं हो गयी? कुछ दृश्य भी आने लगे हैं।" गुरु महाराज बहुत खुश हुए। वह बोले– "बेटा! आज से भगवान ने तुमसे बात करना शुरू कर दिया है। राम-रावण युद्ध अब शुरू हो गया। अब रावण मारा जायेगा, रामजी का राज्याभिषेक होगा तभी छुटकारा मिलेगा। बीच में कहीं विराम नहीं है। तू टेक के साथ लग भर!" धीरे-धीरे भजन की जागृति आ गयी।

गुरु महाराज ने आगे बताया– जब भगवान रथी हो जाते हैं, वे सर्वत्र से बोल सकते हैं – शून्य से, पेड़ से, उड़ते हुए पक्षियों से, चलते हुए व्यक्तियों से, पृथ्वी के अन्दर से – कहीं से भी बोल सकते हैं। क्योंकि वह सर्वत्र हैं। गुरु महाराज ने भगवान के बताने के कई तरीके बताये। वह सब उनकी आज्ञा है। उनकी आज्ञा का उल्लंघन किया ही नहीं जा सकता। सच पूछो तो आज्ञापालन ही भजन है, लेकिन साधकों से कभी-कभी आज्ञा का उल्लंघन हो ही जाता है अथवा भगवान ही और ठुकाई-पिटाई करके खरा उतारने के लिए करवा लेते हैं।

एक समय की घटना है। दिगम्बर वेष में निराधार विचरण के समय गुरु महाराज अयोध्या के समीप जंगल के एक छोटे से गाँव मधवापुर में एक पेड़ के नीचे बैठे थे; क्योंकि भगवान ने वहीं चतुर्मास व्यतीत करने का संकेत दिया था। गुरु महाराज वहाँ सात दिन तक बैठे रह गये। जिन्होंने देखा, सोचा पागल है। स्कूल जानेवाले छोटे-छोटे बच्चों ने भी आपको देख लिया। वे विद्यालय जाते समय गुरु महाराज के ऊपर पत्थर फेंकते, लौटकर आते समय भी वे पत्थर फेंका करते। यह स्वागत सातों दिन चलता रहा। क्रमशः लड़के प्रगल्भ हो चले। एक लड़के ने गुरु महाराज के समीप आकर पत्थर मारा जो

उनकी पीठ में लगा। महाराज ने सोचा– अब तो ढीठ होते जा रहे हैं। वह उठकर बड़ी जोर से बिगड़े– धत् तेरी लड़कन-फड़कन की! लड़के दो-दो, तीन-तीन आपस में उलझकर पगडण्डियों पर गिरते-पड़ते, रोते-चीखते घर पहुँचे– पगला मारा, पगला मारा।

पचीसों आदमी लाठी लेकर दौड़ पड़े। वे आपस में बोले– पहले लड़कों को गिन लो, कोई मर तो नहीं गया। वे आपस में ही योजना बनाते यह कहते हुए दौड़े– देखो, भागने न पाये, घेर लो। घेरा छोटा करते-करते वे महाराज के समीप तक आ गये। उन्होंने सोचा था कि यदि इसने कोई काण्ड किया होगा तो शोर सुनकर भागने लगेगा। किन्तु महाराजजी शान्त भाव से बैठे ही रहे। वे लाठी महाराजजी के शिर तक ले आते और कहते– बोल, तू पागल है या साधु?

महाराजजी की निर्भिकता और शान्ति देख लोगों ने अनुमान लगाया कि कहीं यह सन्त न हों। पदारथ काका साधुसेवी हैं, उन्हें बुलाओ। वह पहचान करेंगे। उन ठाकुर साहब को बुलाया गया। आते ही उन्होंने साष्टांग दण्डवत् कर कहा–

एक बार हरि घोड़ा भये, ब्रह्मा भये लगाम।
चाँद सुरुज रबिका भये, चढ़ि गये चतुर सुजान।।

गुरु महाराज ने आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ उठाया। उन्होंने कहा– ''भगवन्! इस दोहे का अर्थ बताने की कृपा करें।'' महाराज ने कहा– ''देखिये, जो सर्वस्व को हर लेते हैं उन्हें हरि कहते हैं। भगवान शुभाशुभ हर लेते हैं और बदले में अपना स्वरूप प्रदान कर देते हैं इसलिए उनका एक नाम हरि है। हरि स्वयं घोड़ा बनकर मन के अन्तराल में प्रवाहित हो जायँ। बुद्धि ही ब्रह्मा है, बुद्धि लगाम है। चाँद और सूर्य = इड़ा और पिङ्गला– यह श्वास का नाम है। ये रकाब हैं जिन पर पैर रखकर घोड़े पर चढ़ा जाता है। इस श्वास-प्रश्वास का यजन करते हुए **'चढ़ि गये चतुर सुजान'**– जो चतुर हैं, वास्तविकता के ज्ञाता हैं, वे इस पर चढ़ जाते हैं। जो श्वास का भजन नहीं

जानता, महापुरुष लोग ऐसे महात्मा को अपनी कुटिया में दो रोटी भी नहीं देते।'' महाराज ने उन्हें भजन की विधि थोड़ा समझा दिया।

अब वह वयोवृद्ध ठाकुर साहब गाँववालों पर बहुत बिगड़े– ''सात दिनों से एक महापुरुष यहाँ भूखे-प्यासे बैठे हैं, तुमलोगों ने कोई ध्यान नहीं दिया। तुमलोगों के गाँव का नाश हो जायेगा। जल्दी करो, दूध लाओ।'' अब कोई दूध तो कोई दही ले आया। लोगों ने अनुरोध कर महाराजजी के लिए कुटिया बना दी। पूरा गाँव महाराजजी की सेवा में लग गया।

उन सेवकों में से एक मिश्राजी थे। वह जंगल विभाग में फारेस्टर थे। वह हर दूसरे-तीसरे दिन अपनी बैलगाड़ी में लकड़ी भरकर महाराजजी की कुटिया पर गिराकर कहते– ''महाराजजी! सर्दियों में धूना मैं तपाऊँगा।'' गुरु महाराज चतुर्मास के पश्चात् सर्दियों में भी वहीं रुके रह गये। धूने के लकड़ी की व्यवस्था मिश्राजी करते और महाराजजी के यहाँ गाँवभर ने धूना तापा।

गर्मी आयी भी न थी कि गाँव में हैजा फैल गया। दो लाश इस गाँव से, दो लाश उस गाँव से; लोग मरने लगे। एक ने महाराजजी से कहा– ''महाराजजी! मिश्राजी तो मर गये।'' महाराजजी चौंके– ''मर गये?'' पुनः व्यथित हो वह भगवान को उलाहना देने लगे– ''का हो भगवान! जे के मरि जाये का रहा ओके हाथ से हमार सेवा काहे करवायो? अरे ओके हाथ से सेवा करवावै के चाहत रहा जौन जिन्दा रहत! फिर साधू की सेवा करै से का फायदा?'' उन्होंने सेवकों की ओर मुड़कर कहा– ''क्यों रे! मिश्राजी सचहूँ के मरि गये। पता तो लगा!'' लड़के दौड़कर गये, उनका समाचार आकर बताया कि उन्हें मरणासन्न जानकर चारपाई से नीचे उतारकर जमीन पर लिटा दिया गया है। उनके हाथों से एक बछिया का दान भी करा दिया गया है। उनकी श्वास कभी रुक जाती है, कभी लौट आती है। महाराज ने कहा– ''अच्छा! इस धूनी से विभूति उठाओ और ले जाकर उनके घरवालों को दे दो। यदि मिश्राजी जीवित रहते विभूति पा जायँगे तो नहीं मरेंगे।''

ठाकुरों के दो लड़के विभूति लेकर दौड़ते हुए मिश्राजी के गाँव गये। किन्तु मिश्राजी के घर में जाने की उन्हें हिम्मत नहीं पड़ रही थी। हैजा के

कीटाणु वायु में उड़ते रहते हैं; जिसको छू जायँ उसे भी हैजा हो सकता था। इसलिए वे लोग दूर से ही आवाज लगाने लगे। रात के आठ बज रहे थे। घर में रोना-पीटना लगा था। आवाज सुनकर मिश्राजी के लड़कों ने रोना बन्द कराया, इन बच्चों के पास आये। बच्चों ने विभूति देकर कहा कि महाराजजी ने भेजा है। यह विभूति उन्हें खिलाकर लौटकर हमें बताओ कि जीवित रहते वे विभूति पा गये या नहीं? महाराज ने कहा है कि 'जियत विभूति पा जाइ तो मरी ना!'

लड़के ने विभूति खिला दिया, मिश्राजी के शरीर में लगा भी दिया और लौटकर उन बच्चों को बताया– "भाई! आशा तो नहीं है लेकिन खुशी की बात है कि महाराज की विभूति मुँह में चली गयी।" दोनों लड़कों ने लौटकर महाराजजी को बताया कि वे जीते जी विभूति पा गये। महाराजजी धूना चेताकर बैठ गये। उन लड़कों से कहा– "भागो, अब घर जाओ।" दो-चार अन्य ग्रामीण भी महाराजजी के पास बैठे थे, उनसे भी उन्होंने कहा– "अब आपलोग भी जाओ।" उन सबने महाराजजी को प्रणाम किया और आश्रम से निकल आये।

रास्ते में उनलोगों ने विचार किया– रोज तो हमलोग महाराजजी के पास नौ बजे तक बैठते थे, आज इन्होंने हम सबको पहले ही भगा दिया। महाराज ने चैलेन्ज भी बहुत बड़ा दिया है कि जीवित रहते विभूति पा जायेंगे तो मिश्राजी मरेंगे नहीं। वैसे मिश्राजी बचेंगे तो नहीं। विभूति ही तो दिया है। यह कोई दवा तो है नहीं, राख ही तो है। लगता है आज महाराज भाग जायेंगे इसीलिए सबको हटा दिया है। अब मिश्राजी मरें चाहे जीयें; यार! महात्मा अच्छे हैं, हमलोग इन्हें जाने नहीं देंगे। ऐसा करते हैं कि हममें से दो-दो लोग बारी-बारी से रातभर पहरा दें। जब महाराज भागने लगेंगे तो इनके पैरों पर गिरकर इन्हें मनायेंगे, रोकेंगे, जाने नहीं देंगे। दो-दो आदमियों की ड्यूटी लग गयी। दो लोग रुक कर, शेष खा-पीकर आने को कहकर चले गये।

उन सबके चले जाने के पश्चात् महाराजजी पुनः धूना ठीक करके, लेटकर श्वास में लग गये। पहरा देनेवाले धीरे-धीरे झोपड़ी के पास तक यह देखने

आते कि महाराज निकल तो नहीं गये! उनके समीप आते ही महाराजजी की श्वास भारी होने लगती। महाराजजी उठकर बैठ जाते, धूना ठीक करने लगते, आश्वस्त होकर पहरेवाले दूर चले जाते तो श्वास पुनः ठीक हो जाती। महाराज पुनः लेट जाते। दूसरे पहरेदार समीप आते तो महाराजजी की श्वास पुनः भारी होने लगती। महाराजजी पुनः उठकर बैठ जाते और कहते– क्या बवाल है यहाँ पर? कोई जंगली जानवर तो नहीं है? प्रपंच-प्रपंच क्यों आ रहा है श्वास में? महाराजजी पुनः धूना खोदते, खाँसते। वे लोग दुबककर झाड़ी की ओट में हो जाते, अन्य लोगों को बताते कि अभी हैं। रातभर में तीन टुकड़ी पहरेदारों की आई। हर बार लोगों ने महाराजजी को खाँसते, धूना ठीक करते देखा।

धीरे-धीरे प्रातः के चार बज गये। गाँव से सेवा करनेवाले अन्य लोग आने लगे। कोई महाराजजी के पात्र में जल भरकर रख रहा है तो कोई झाड़ू-बुहारू कर रहा है, कोई गाँजे की चिलम सजा रहा है। धीरे-धीरे पूरा गाँव ही महाराजजी के सामने आकर दण्ड-प्रणाम कर बैठ गया। भीड़ में कोई किसी से बोल नहीं रहा था। थोड़ी-थोड़ी देर में कुछ लोग सड़क की ओर जाकर देख लेते कि मिश्राजी के गाँव से कोई आता तो उससे पूछते कि वह मरे या नहीं!

इतने में एक आदमी बोल पड़ा– "अरे महाराज! मिश्राजी तो वह चले आ रहे हैं बैलगाड़ी में बैठकर। उनका लड़का बैलों को हाँक रहा है।" इतना सुनते ही सारी भीड़ एक झटके में सड़क पर आ गयी। मिश्राजी आये। उनके साथ ही सब के सब पुनः महाराजजी के समक्ष यथास्थान बैठ गये। मिश्राजी महाराजजी को प्रणाम कर बोले– "महाराज! आप कब आ गये? रातभर आप हमारे पास बैठकर सिर से पाँव तक हाथ फेरकर कहते रहे- 'तू घबड़ा न! मैं आ गया हूँ। तू मरिहै न।' मैं टुकुर-टुकुर आपको देख रहा था और आप बैठकर मेरे ऊपर हाथ फेर रहे थे, सान्त्वना दे रहे थे। लगभग पाँच बजे थोड़ी देर के लिए हमारी आँख लग गयी। इतने में आँख खुली तो आप नहीं थे। आप कब चले आये?"

पहरा देनेवालों ठाकुरों ने कहा– "अरे! महाराज तो रातभर यहीं धूना खोद रहे थे। हमलोगों ने पहरा दिया है, देखा है, यह तो यहीं थे।" सारा

प्रकरण सुनकर महाराज बोले– "धत् तेरी धूर्तों की! रातभर हमारा भजन चौपट कर दिया। जब तुमलोग इतना अविश्वासी हो तो अब हमें यहाँ पर नहीं रहेंगे।" धूने से लकड़ी निकाल बाहर रख महाराजजी उठे और चल पड़े। गाँववालों ने बहुत प्रार्थना किया, क्षमा माँगा, पैरों पर गिर पड़े। येनकेन प्रकारेण वे लोग महाराजजी को रोकने में सफल हो गये।

मधवापुर में दो-चार मरती-जीती विस्मयकारी घटनायें और भी घटित हुईं। महाराजजी ने सोचा– आरम्भ में जब हम गाँव के पास रहकर भजन कर रहे थे, लोग कहा करते थे– यह भजन नहीं कर रहे हैं। इन्हें टी.बी. हो गयी है, घड़ी टल रही है, जब न मर जायँ। अब तो सधुआई में चार चाँद लग गया है, काफी दम आ गया है। चलें, एक बार गाँववाली उस कुटिया में भी चलें। लोग देख तो लें कि हम सचमुच के साधु हैं, रोगी नहीं हैं।

मन में ऐसा संकल्प उठते ही भगवान ने मना किया कि जाना मत! एक महीने तक मन लगातार गाँव जाने के लिए तुड़ाता रहा, भगवान बराबर मना करते रहे। इन्हीं दिनों एक भक्त घोड़े के बालों का चँवर बनाकर महाराजजी को दे गया। महाराजजी ने सोचा– यह चँवर गुरु महाराजजी को दे आयें। यह ठीक रहेगा। गुरु महाराज का एक पैर टूट गया है, उसमें घाव है। इस चँवर से महाराजजी घाव पर बैठनेवाली मक्खी उड़ाया करेंगे और गाँववाले भी देख लेंगे कि हम रोगी नहीं बल्कि सचहूँ के साधु हैं। इन विचारों पर भी महाराजजी को अपशगुन होता रहा, भगवान मना करते रहे फिर भी महाराज रामकोला जानेवाली ट्रेन में बैठ गये।

रेलगाड़ी रामकोला स्टेशन पर पहुँच गयी। भगवान ने आदेश दिया, आकाशवाणी हुई– 'ठीक है, आ तो गये हो लेकिन प्लेटफार्म पर पाँव मत रखना, नहीं तो तुम्हारे सभी करम हो जायेंगे।' महाराजजी दरवाजे का सिकचा पकड़कर गाड़ी से बाहर सिर निकालकर देखने लगे कि गाँववाला कोई तो हमें देख ले कि यह साधु हैं और ठीक-ठाक हैं, स्वस्थ हैं। लेकिन भगवान की ऐसी व्यवस्था कि अपने ही गाँव का स्टेशन, पूरे गाँव से महाराजजी परिचित थे, किन्तु उस दिन गाँव का एक भी व्यक्ति स्टेशन पर नहीं था। लगभग

बीस मिनट तक रेलगाड़ी रुकी रही, रुकने के निर्धारित समय से बहुत देर तक रुकी रही, किन्तु महाराजजी का परिचित एक भी व्यक्ति दिखाई न पड़ा।

अंततः ट्रेन चल पड़ी। महाराजजी ने सोचा– आगे तो कहीं जाना नहीं है। चलो, यहीं उतर जाते हैं, शायद कोई मिल जाय तो हमें देख तो लेगा, कुटिया पर नहीं जायेंगे। ट्रेन ने गति पकड़ ली थी फिर भी महाराज उतर पड़े। कुछ चोट भी लगी, ट्रेन निकल गयी। तभी महाराजजी के शरीर से उन्हीं की आकृति का एक पुतला निकला और बोला– ''जाओ, घर जाओ! तुम साधु नहीं हो सकते।'' तब तक एक दूसरा पुतला निकला। इसी प्रकार तीसरा पुतला निकलकर बोला– ''जाओ, देखो वह घर दिखाई दे रहा है।'' महाराज एकदम काँप गये। वह कूदकर रेलवे पटरी के दूसरी ओर हो गये; क्योंकि जिस ओर खड़े थे, वह उनके गाँव की भूमि थी, दूसरी ओर दूसरा गाँव था। महाराज ने सोचा कि हो सकता है भगवान इतने से ही मान जायँ, लेकिन अपशकुन होता ही रहा। महाराज जिधर मुँह था, उधर ही बढ़ने लगे, भगवान से प्रार्थना करने लगे– ''भगवन्! अब भी हमको किसी ने नहीं देखा है। अब मैं गाँव की ओर मुँह भी नहीं करूँगा और यहाँ जीवनपर्यन्त नहीं आऊँगा।'' महाराज आगे बढ़ने को हुए तो पुनः डाट पड़ी कि अब भागने से कुछ नहीं होगा। महाराज जब श्वास पकड़ने का प्रयास करने लगे तो भगवान बोले– ऊहूँ भजन मत करो। तुम साधु हो ही नहीं सकते। दिन के चार बजे से रात के ग्यारह बजे तक महाराज वहीं खेत में खड़े रह गये, कोई पास में नहीं आया। आँसू बह रहे थे। जब आगे बढ़ने की सोचते, मना होने लगता, भगवान कहते– ''ना! तुम घर जाओ।''

महाराजजी ने देखा कि भगवान आगे बढ़ने नहीं दे रहे हैं तो धीरे-धीरे चलकर अपनी कुटिया में आकर बैठ गये। पहले जब महाराज कुटिया में भजन करते थे, एक काला कुइरा (काना) कुत्ता वहाँ रहने लगा था। महाराजजी के जाने के पश्चात् भी वह अपनी ड्यूटी पर वहाँ बैठा था। वह दौड़कर महाराजजी के चरणों में लोटने लगा और गाँव की ओर भागा। वह पाँच बार महाराजजी के पास आया और पाँच बार गाँव में उनलोगों के पास गया जो महाराजजी

के पास आते थे। वह उनकी चारपायी पर कूद जाता, उनकी रजाई खींचता। लोगों ने सोचा– आज कुइरा बड़ा प्रसन्न है। कहीं सन्तजी तो नहीं आ गये? कुतूहलवश लोग कुटिया पर आये तो सन्तजी को आँसू बहाते पाया। रोते-रोते महाराजजी की दुर्दशा हो गयी। महाराज डेढ़ साल तक कुटिया में बैठे रहे, भगवान से विनय करते रहे– "प्रभो! घर तो नहीं जाऊँगा। हमसे बड़ा अपराध हुआ जो आपकी आज्ञा का उल्लंघन किया। घर तो नहीं जाऊँगा चाहे प्राण निकल जायँ।"

डेढ़ वर्ष पश्चात् भगवान ने सुनवाई की। भगवान ने पूछा– "अब तो कभी नहीं आओगे?" महाराज बोले– "कभी नहीं।" अनुभव में ही भगवान ने कहा– "थूको और चाटो।" भगवान ने जमीन पर थुकवाया और उन्हीं से चटवाया। अनुभव में आदेश मिला– "इसी वक्त निकल जाओ।" उस समय रात के दो बजे थे। महाराज सचेतावस्था में आये, तुरन्त उठे और चल दिये। उतनी रात्रि में भी गाँव के एक व्यक्ति ने महाराज को जाते देख पूछा–"सन्तजी, कहाँ?" महाराजजी बोले– "अब जा रहे हैं।" वह बोला– "भल! तोके यही शोभा है। अरे, जब साधू हो गये तब क्या रोनी सूरत लेकर गाँव में पड़े हो। कहीं बहि-बिलाय जात्यौ।" महाराजजी निकल गये।

हमलोगों को वह सचेत करते थे– "हो! भगवान कहें कि यहाँ पाँव रखो तो दो इञ्च भी दायें-बायें मत रखो। सीताजी ने सीमा-रेखा का उल्लंघन किया तो लंका में भोगना पड़ा– **'रेख लाँघि सिय बाहर आई। विधिवश करम काल कठिनाई।।'** *(विश्रामसागर)* प्रभु जो सीमा निश्चित कर दें, उस रेखा का उल्लंघन किया ही नहीं जा सकता।" यही है **'हुक्म उनका दिलों जाँ पै चलता रहे।'**

भगवान ऐसे ही बातें करते हैं जैसे हम-आप बैठकर घण्टों बातें करते हैं। यह सबके लिए सुलभ है। यह कोरी कहावत नहीं है, लेकिन यह जागृति किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के द्वारा होती है। ऐसे महापुरुष की टूटी-फूटी सेवा करने से उनके निर्देशन में टूटी-फूटी साधना पार लगने से वह जागृति आ जाती है। इसके पश्चात् साधक जितना डूबकर लगेगा, भगवान उतना ही उसके

साथ रहेंगे। जब तक यह जागृति नहीं है तब तक सही मात्रा में पूर्ण निवृत्ति दिला देनेवाला भजन अभी आरम्भ ही नहीं हुआ। इसके पहले हम भजन के नाम पर जो भी श्रम करते हैं, भजन की प्रवेशिका के लिए प्रयत्न मात्र है। भजन जागृत हो जाने पर,

बन्दगी हो तो उस शान की बन्दगी,
सर झुके औ जमाना बदलता रहे।

साधक ने कुछ निवेदन कर ही दिया तो वैसी व्यवस्था हो जाती है। एक महात्मा ऐसी ही अवस्था से गुजर रहे थे, सिद्ध हो गये। वह मन में जो सोचते, वही हो जाता। एक बार वह एक पीपल के वृक्ष के नीचे बैठे थे। चबूतरे पर धूप थी। उन्होंने सोचा– बैठने की यह जगह तो ठीक है। यह डाल थोड़ी बढ़ जाती तो यहाँ छाया हो जाती। रात्रिभर में डाल बहुत बढ़ गयी। प्रातः महात्मा ने देखा– अरे, इतनी लम्बी! कहीं गिर जाय तो हम दबकर मर भी सकते हैं। डाल गिरी, वह दबकर मर भी गये। **'व्युत्थाने सिद्धयः'**– सिद्धियाँ वास्तव में होती हैं किन्तु कैवल्य की प्राप्ति में उतना ही बड़ा विघ्न है जितना काम-क्रोध-लोभ इत्यादि। महाराजजी कहते थे– "हो, हम गाँववालों को सधुअई दिखाने गये थे, सबने हमारी रुलाई देखी। व्यंग भी सुनने को मिला कि जब साधु हो गये तो कहीं बहि बिलाय जात्यौ।" साधक को भगवान की आज्ञा का उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिए।

॥ ॐ श्रीगुरुदेव भगवान की जय ॥

धोबिया जल बीच मरत पियासा

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई।।
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना।।
भूत दया द्विज गुर सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई।।

(रामचरितमानस, 7/125/4-6)

सम्पूर्ण तीर्थों का भ्रमण, सम्पूर्ण साधनों का समुदाय, योग और वैराग्य, ज्ञान में दक्षता, गुरु की सेवा, आचार्य की सेवा, द्विज की सेवा,

जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी।।

(रामचरितमानस, 7/125/7)

सब का फल केवल एक हरि की भक्ति है। परम प्रभु भगवान का एक नाम हरि है। वे जिस जीव पर अनुकम्पा करते हैं, उसका शुभाशुभ सर्वस्व हरण कर लेते हैं और बदले में अपना स्वरूप प्रदान कर देते हैं। इसी तरह,

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ज्ञाता। सोइ महि मंडित पंडित दाता।।
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जाकर मन राता।।

(रामचरितमानस, 7/126/1-2)

आज एक उलझा हुआ प्रश्न है कि धर्म क्या है? धर्म के विषय में भ्रान्तियाँ बनी हुई हैं। न जाने लोगों ने क्या-क्या धर्म गढ़ रखा है; किन्तु रामचरितमानस का उत्तरकाण्ड ऐसी ही समस्याओं का उत्तर है, सारे प्रश्नों का समाधान है। सभी प्रश्नों का समाधान करते हुए उन महापुरुष ने बताया कि धार्मिक कौन है? धर्म क्या है? मानस की उक्त पंक्तियों में है कि वही सर्वज्ञ है, सब कुछ जाननेवाला है, विशेषज्ञ है, गुणी है, ज्ञाता है, पंडित है, दानदाता है – उसके पास देने लायक सामग्री है, वह धर्मपरायण है, कुल का रक्षक है; कौन? '**राम चरन जाकर मन राता।**'– राम, उन परम प्रभु के चरणों में जिसका मन अनुरक्त है।

नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धान्त नीक तेहिं जाना।।

(रामचरितमानस, 7/126/3)

दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाकें पद सरोज रति होई।।

(रामचरितमानस, 7/48/8)

वह नीति में निपुण है, **'परम सयाना'**– समाज का सबसे सुलझा हुआ पुरुष है, वेदों का सिद्धान्त उसने भली प्रकार जाना है (भले ही वह पढ़ा-लिखा न हो), वह क्रिया में दक्ष है। कौन? **'जाके पद सरोज रति होई।'**– राम – उन परम प्रभु के चरण-कमल में जिसका मन अनुरक्त है।

सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत।
श्री रघुबीर परायन, जेहिं नर उपज बिनीत।।

(रामचरितमानस, 7/127)

हे पार्वती! वह सारा कुल कृतार्थ है, धन्य है, जिस कुल में किसी एक का राम – उन परम प्रभु के चरणों में अनुराग पैदा हो जाय। इसलिए उन प्रभु के चरणों में श्रद्धा स्थिर करो और जो उन्हें पुकारता हो, ऐसे दो-ढाई अक्षर के नाम का जप करो। ऐसा करनेवाला क्रिया को न जानते हुए भी क्रियावान् है और धर्म को न जानते हुए भी शुद्ध धार्मिक है; अन्यथा कितना भी पापड़ बेलें, कुछ भी हाथ लगनेवाला नहीं है।

रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ विषान।।

(रामचरितमानस, 7/78 क)

राम – एक परमात्मा के भजन के बिना जो कल्याण चाहता है, वह बिना सींग-पूँछ का पशु है। उसमें और बैल में अन्य कोई अन्तर ही नहीं है। भला इससे अधिक कोई क्या खरी-खोटी कहेगा! अच्छे-भले, खाते-पीते मनुष्य को पशु कह दिया। इन्हीं सन्दर्भों में सन्त कबीर का एक छोटा-सा भजन प्रस्तुत है–

जल बीच मरत पियासा.....
रे धोबिया जल बीच मरत पियासा।।

जल में ठाढ़ चिन्हत नहिं मूरख, अच्छा जल है खासा।
अपने घर का मरम न जाने, करे धोबियन की आसा।।
रे धोबिया.....

छन में धोबिया रोवै धोवै, छन में होत उदासा।
अपने हाथ से बरि के रसरिया, अपनी गटइया में फाँसा।।
रे धोबिया.....

साँचा साबुन लेइ न मूरख, है संतन के पासा।
दाग पुराना छूटत नाहीं, धोवत बारह मासा।।
रे धोबिया.....

एक रात का जोर लगावै, छूटि जात भरमासा।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, आछत अन्न उपासा।।
रे धोबिया.....

कबीर एक महापुरुष हुए हैं, जैसा कि अनादिकाल से होते आये हैं – सप्तर्षि, सनकादि ऋषि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, बाल्मीकि, सूर, तुलसी इत्यादि। इन्हीं में से एक इकाई कबीर भी थे। अधिकांश महापुरुषों के जीवन-चरित्र से ज्ञात होता है कि ईश्वर-प्राप्ति के इस पवित्र पथ में माता-पिता की कुलीनता का सहयोग नहीं दिखाई पड़ता। ईसा गर्भ में थे जब उनकी माँ मरियम का विवाह हुआ; किन्तु वह महापुरुष हो गये। ऋषि श्रृंग मृगों के झुण्ड में शिशु रूप में मिले थे; विभाण्डक ऋषि ने उनका पालन-पोषण किया। उन्हीं के द्वारा सम्पादित यज्ञ से भगवान राम का जन्म हुआ। वेदव्यास एक मत्स्यपालिका के पुत्र थे, वह भी कुँआरी कन्या से! स्पष्ट है कि भगवत्पथ में माता-पिता की सामाजिक प्रतिष्ठा से कोई सहयोग प्राप्त नहीं होता।

ऐसे ही परिवेश में सन्त कबीर भी थे। काशी के लहर तालाब के किनारे एक नवजात शिशु रुदन कर रहा था। नीरू और नीमा नामक जुलाहा दम्पति की दृष्टि शिशु पर पड़ी। संयोग से उन्हें कोई संतान न थी। उन्होंने उसे बड़े प्यार से पाला और परिवार की परम्परा के अनुरूप उस शिशु का पवित्र नाम कबीर रखा।

लड़का जब थोड़ा सयाना हुआ तो लगा काशी की गलियों में चक्कर लगाने। इस मन्दिर से उस मन्दिर। फिर वह सन्तों के मठ में जाने लगा। एक मठ बच्चे को पसन्द आ गया; वह था स्वामी रामानन्दजी का पवित्र आश्रम। वह प्रतिदिन आश्रम में जाकर खड़ा रहता था। आश्रम के शिष्य उसे धमकाते, भगाते; आपस में कहते– ''यह जुलाहा बड़ा ढीठ है। इसे जब देखो, यहीं खड़ा रहता है। जा, भाग जा!''

कबीर ने देखा कि गुरुजी तो कुछ नहीं बोलते, यह शिष्य ही उसे भगाते हैं। किसी युक्ति से गुरुजी से मिला जाय और उनसे दीक्षा ली जाय। उसने निरीक्षण करना आरम्भ किया कि गुरुजी की दिनचर्या क्या है? 'होनहार बिरवान के होत चिकने पात।' उस बालक की बुद्धि में एक योजना आ गयी। गुरुजी ब्रह्मबेला में गंगा-स्नान को जाते हैं। स्नान के लिए वह घाट की सीढ़ियों से नीचे उतरते हैं। कबीर उन्हीं सीढ़ियों पर रात्रि को ही लेट गये। सीढ़ियाँ उतरने के क्रम में रामानन्दजी का पैर कबीर के पेट पर पड़ा। रामानन्दजी के मुख से स्वाभाविक ही 'राम-राम' निकल पड़ा। उन्होंने झुककर कबीर को उठाया, ''बच्चा! राम-राम कहो।'' कबीर ने कहा, ''हाँ गुरु महाराज! राम-राम, राम-राम! गुरुजी, हम मंत्र पा गये।''

रामानन्दजी ने कहा– ''तो यह तू है कबीर! गुरुमंत्र पाने के लिए तूने इतना प्रयास किया।'' कबीर ने कहा, ''जी महाराज! आज आपकी कृपा हो गयी।'' रामानन्दजी सस्नेह बोले, ''तू तो बड़ा लगनी है। आश्रम आओ, सेवा करो। अब तुम्हें कोई नहीं रोकेगा।'' इस प्रकार उस आश्रम में कबीर को प्रवेश मिल गया। वैसे तो रामानन्दजी के सहस्त्रों शिष्य थे लेकिन उनमें कबीर सर्वोपरि निकले।

इस प्रकार जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों की रील जब साथ देती है तो कोई फुटपाथ पर ही क्यों न जन्मा हो, भगवत्पथ पर अग्रसर हो जाता है। इस पथ में किसी कुलीनता का सहयोग पूर्व ऋषियों की जीवनी देखने से समझ में नहीं आता है और न ही ऐसा कहीं आपके शास्त्रों में ही है। रामचरितमानस

में है कि राज्याभिषेक के पश्चात् भगवान राम ने पुरवासियों की एक सभा बुलायी और कहा,

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी॥

(मानस, 7/42/3)

जनपद के निवासीगण! ध्यान से सुनें। इसमें मेरा अपना कोई स्वार्थ नहीं है। कदाचित् कोई अनीति मेरे मुख से निकल जाय तो आप निःसंकोच मुझे रोक देना, मैं मान जाऊँगा। उन्होंने कहा क्या?–

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

(मानस, 7/42/7-8)

बड़े भाग्य से यह मानव-तन मिला है। (भले ही वह लहर तालाब पर फेंका क्यों न मिल गया हो। बाल्मीकि की तरह कोल-भील या जंगली जातियों में ही क्यों न जन्मे हों, सबको बड़े भाग्य से मानव-तन मिला है।) क्या विशेषता है इस तन में? यही कि यह साधन का धाम है, यह मुक्ति का दरवाजा है। साधन माने बस पकड़ना नहीं या परिवार के लिए आटा-दाल जुटाना नहीं है। साधन वह है जो आपको मोक्ष प्रदान कर दे। उसके लिए विवेक, वैराग्य, श्रद्धा, समर्पण जो चाहिए, वह सब कुछ इस मानव-तन में देकर प्रभु ने जन्माया है। ऐसे दुर्लभ तन को पाकर जिसने अपना परलोक नहीं सुधारा,

सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ॥

(मानस,7/42/3)

वह जन्मान्तरों में दुःख पाता है, सिर पीटकर पश्चाताप करता है और काल, कर्म, ईश्वर को व्यर्थ ही दोष देता है। मानव तन उपलब्ध है और परलोक नहीं सँवारा तो सब दोष उसी का है। भौतिक सम्पत्ति कोई कितना कमाकर रख लेगा? और कब तक उपभोग करता रहेगा? क्योंकि–

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥

(मानस, 7/43/1)

हम-आप अधिक से अधिक स्वर्गिक ऐश्वर्य संग्रहीत कर लेंगे; और क्या कर लेंगे? किन्तु स्वर्ग भी स्वल्प, थोड़ा। उसका अन्त दुःखद होता है। स्वर्ग भी कालान्तर में आपके लिए दुःख का आरक्षण है। स्वर्ग से खिसकनेवाले अजगर के शरीर में चले गये। इसका दुःख नहीं होगा क्या? नश्वर कभी शाश्वत नहीं होता। शाश्वत एकमात्र भगवान के भजन में सहायक है तो दुर्लभ मानव-तन! इसमें सामाजिक कुलीनता का सहयोग कदापि नहीं है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्। *(गीता, 9/33)*

सुखरहित, क्षणभंगुर! प्रतिक्षण परिवर्तित हो जा रहा है, भंग होता जा रहा है यह शरीर! कल जो फुदकते हुए बालक थे, आज बाल पक गये। इतने नश्वर मानव-तन को पाकर मेरा भजन कर! आपके धर्मशास्त्र गीता के अनुसार भजन का अधिकार उन सबको है जिन्हें मानव तन मिला है। ऐसे ही कबीर लहर तालाब पर मिले और एक महापुरुष के रूप में परिवर्तित हो गये।

कबीर की वाणी प्रथम दृष्ट्या समझ में नहीं आती। देखें–

बूझो बूझो पंडित अमरित बानी। बरसे कम्बल भीगे पानी॥

* * *

अवधू! ऐसा ज्ञान न देखा।
पहिले मोरी माई मरि गई, पीछे जनम हमार।
बाबा चले हैं ब्याह करन को, हमहूँ चले बरियार॥
अवधू ऐसा ज्ञान न देखा......

क्या ऊटपटांग कह दिया! किसी ने कहा– यह कबीर की उलटबाँसी है; तो किसी ने कहा– उन्होंने निर्गुण कथन कर दिया। वह निर्गुण उपासक थे जबकि सृष्टि में निर्गुण नाम की कोई उपासना होती ही नहीं, न है और न भविष्य में ही कभी हो सकेगी। उपासना जब चलती है तो सगुण से चलती

है और जब परिणाम देती है, जब विलय दिलाती है, स्थिति दिलाती है तो गुणातीत में। वह साधक को प्रकृति के गुणों से अतीत कर देती है। निर्गुण प्राप्ति के पश्चात् महापुरुष की अवस्था है, न कि कोई उपासना। कबीर भी सगुण उपासक थे। उनकी साखी है–

साहिब का घर दूर, ज्यों लम्बा पेड़ खजूर।
चढ़े तो चाखे राम रस, गिरे तो चकनाचूर।।

उन परमात्मा प्रभु का घर बड़ी दूर है। उन्होंने उदाहरण दिया लम्बे खजूर के पेड़ का। **'चढ़े तो चाखे राम रस, गिरे तो चकनाचूर।'** भगवान कहीं अलग हैं, अपने कहीं अलग है, चढ़ना और गिरना लगा हुआ है। आप ही विचार करें, सगुण उपासक के और क्या लक्षण होते हैं? यही तो कि भगवान अलग हों, हम अलग हों और शोध बाकी हो। कबीर भी इस दूरी को तय करने के लिए चिन्तित थे। उन्हें इस रास्ते में आनेवाली रुकावटें दिखायी पड़ीं–

माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरगुन फाँस लिये कर डोले, बोले मधुरी बानी।

इसने छोड़ा किसी को भी नहीं। साधक को राह से भटकाने के लिए यह हर जगह प्रस्तुत रहती है–

केसव के कमला ह्वै बैठी, शिव के भवन भवानी।
पंडा के मूरत ह्वै बैठी, तीरथ में भई पानी।।

माया से आतंकित कबीर ने एक दिन अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया। उन्होंने पाया क्या? निर्गुण रहनी!

अवधू बेगम देस है मेरा।
तहाँ न उपजे मरे न बिनसे नहिन काल का फेरा।

संतो! अब मैं जिस देश में विचरण कर रहा हूँ वह बेगम है, अचिन्त्य है, अगोचर है, मन-बुद्धि से अतीत है, इनकी गम (पहुँच) से परे है इसलिए भगवान के देश को बेगम देश कहते हैं। वहाँ उत्पत्ति नहीं, विनाश नहीं है।

तहाँ न ईश्वर जीव न माया पूजक पूज्य न चेरा।

वहाँ ईश्वर है ही नहीं, माया भी नहीं है। पूजने योग्य कोई सत्ता नहीं है और पूजनेवाला कोई पथिक भी नहीं है। आप ही विचार करें, वहाँ पूजा कौन करेगा और किसकी करेगा? अंततः कुछ बचा या नहीं?

कहत कबीर सुनो भाई सन्तों, नहिं तहँ द्वैत बखेरा।

कबीर कहते हैं, संतो! ध्यान दें। वहाँ द्वैत का बखेड़ा ही नहीं है। वहाँ तो केवल मैं हूँ, मेरा अस्तित्व है। मुझसे भिन्न कोई सत्ता नहीं है। तुलसीदास को संसार जानता है कि वह सगुण उपासक थे; किन्तु अन्त में स्थिति पाने पर उन्होंने कहा–

जब द्रवै दीन दयालु राघव साधु-संगति पाइये।

* * *

सेवत साधु द्वैत-भ्रम भागै। श्री रघुबीर चरन लय लागै॥

* * *

पावै सदा सुख हरि-कृपा संसार आसा तजि रहै॥
सपनेहुँ नहीं सुख द्वैत दरसन बात कोटिक को कहै॥

(विनयपत्रिका, पद 136)

भगवान की असीम अनुकम्पा से संतों के समान स्थिति मिलती है जहाँ सपने में भी द्वैत का आभास नहीं, दर्शन नहीं होता। कौन करोड़ों दलीलें देता फिरे? तुलसी कहते हैं– द्वैत का दर्शन नहीं; कबीर कहते हैं– द्वैत का बखेड़ा नहीं। स्पष्ट है कि हर महापुरुष सगुण से चलता है और दर्शन-स्पर्श के साथ जब स्थिति मिलती है तो गुणातीत में, प्रकृति के गुणों से अतीत! अतः निर्गुण एक रहनी है, चरमोत्कृष्ट अवस्था है; न कि कोई आराधना या चिन्तन-पद्धति। कबीर सगुण उपासक थे। उनके चिन्तन का नाम 'राम' था।

जीव सिव सब प्रकटे वे ठाकुर वे दास।
कबीर और जाने नहीं इक राम नाम की आस॥

इधर अपार जीवों की शृंखला, उधर शिव अर्थात् कल्याण तत्त्व की मान्यता है। **'कबीर और जाने नहीं इक राम नाम की आस।'** कबीर को आशा है तो केवल रामनाम से है; किन्तु,

राम नाम में अंतर है, कहीं हीरा है कहीं पत्थर है।

* * *

राम नाम दुर्लभ अति औरन ते नहिं काम।
आदि अन्त अरु जुग जुग रामहिं ते संग्राम॥

रामनाम बहुत कठिन है, **'अति दुर्लभ'**! तो छोड़िये, क्यों झंझट में पड़ते हैं? मत जपें रामनाम! कबीर कहते हैं– नहीं, जपना तो पड़ेगा। **'औरन ते नहिं काम।'**– अन्य किसी प्रक्रिया से आपकी कार्यसिद्धि नहीं होगी, कल्याण नहीं होगा इसलिए **'आदि अंत अरु जुग जुग रामहिं ते संग्राम।'**– 'आदि' अर्थात् भजन की शुरुआत, 'अंत' प्राप्तिकाल; इसके बीच चाहे जन्म-जन्मान्तर लग जाय, संघर्ष है तो राम से। राम से लड़ोगे तो रामत्व पा जाओगे और जीवों से लड़ोगे तो बदले प्राप्त कर लोगे। जपना तो पड़ेगा ही। रामनाम की जागृति कब है?

जे जन भींगे राम रस, बिगसित कबहुँ न रूख।
अनुभव भाव न दरसिये, तेहिं नर सुक्ख न दुःख॥

जो कोई भी जन, कोई भी सेवक जो राम के रस में सराबोर हो गया, वह **'बिगसित'**– सदैव प्रफुल्लित रहता है। **'कबहुँ न रूख'**– उसके जीवन में रूखापन या उदासी कभी आती ही नहीं। किन्तु क्या प्रमाण है कि कोई राम के रस में भींगे हुए हैं? **'अनुभव भाव न दरसिये, तेहिं नर सुक्ख न दुःख।'**- यदि संकल्पों के साथ अनुभव न मिले, भाव के साथ-साथ अनुभव नहीं मिल रहा है, उस साधक के लिए न सुख है, न दुःख है। उसका रामनाम जपना प्रवेशिका के लिए प्रयत्न मात्र है, नाम अभी जागृत नहीं हुआ है। आशय यह कि संकल्पों का वेग यदि विजातीय प्रवृत्ति की ओर जा रहा है तो भगवान रोकें कि, ऊहू! भूल कर रहे हो, सावधान! जब चिन्तन सही दिशा में हो तो भगवान बतायें कि मन कितना प्रतिशत लग रहा है। मन में वृत्ति के प्रवाह के साथ-साथ यदि भगवान अनुभूति न दें, सार-सम्हाल न करें, उस पथ पर न ले चलें तब तक न सुख है न दुःख; क्योंकि नाम अभी जागृत नहीं हुआ।

भव कहते हैं संसार को, अन कहते हैं अतीत को! इस प्रकार संसार से अतीत करनेवाली, संसार का निषेध करनेवाली विशेष जागृति का नाम अनभव है। उस जागृति का लक्षण यह है कि जिस सतह पर खड़े होकर हम परमात्मा को पुकार रहे हैं, हमारी पुकार, हमारी चाह ऐसी हो कि प्रभु हमारी सतह पर उतर आयें और हमारी आत्मा से अभिन्न होकर खड़े जो जायँ, हमारा मार्गदर्शन करने लगें। परमात्मा की अपौरुषेय वाणी के प्रसारण का नाम अनभव या अनुभव है। यही कबीर की साखी का आशय है कि यदि हमारे भावों के साथ वह परमात्मा अपनी अनुभूति प्रसारित न करें तो साधक के लिए न सुख है, न दुःख है। जब अनुभव प्रसारित होने लगें तो नाम जागृत हो गया।

इस संसार को कबीर ने दुःखों की खानि कहा है-

यह संसार दुःखों की खानी। तब बचिहो जब रामहिं जानी।।

आदिशास्त्र गीता में भी संसार को '**दुःखालयमशाश्वतम्**' ***(8/15)*** कहा गया है। कबीर गीता ही तो पढ़ रहे हैं कि संसार दुःखों का घर है। जो आज है, कल नहीं रहेगा। '**फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना।**' वह दुःखों की खानि है। जैसे कोयले की खदान में चाहे जितनी गहरी खुदाई करो, कोयला ही मिलेगा। कोयले की क्वालिटी अच्छी-खराब हो सकती है किन्तु मिलेगा कोयला ही। '**तब बचिहो जब रामहि जानी।**'- इस दुःख से तभी बचोगे जब राम को जान लोगे।

हमरे देखत सकल जग लूटा। दास कबीर राम कहि छूटा।।

देखते ही देखते प्रजा से लेकर चक्रवर्ती सम्राट तक लूट लिये गये किन्तु दास कबीर राम का आश्रय लेकर इस माया के चंगुल से छूट गया। एक अन्य स्थल पर कबीर ने कहा कि संसार में लोग परस्पर कुशल पूछते हैं-

कुशल कहत कहत जग बिनसे, कुशल काल की फाँसी।
कह कबीर एक राम भजे बिन, बाँधे जमपुर जासी।।

बुजुर्गों से उनकी कुशलक्षेम न पूछें तो वह दुःखी हो जाते हैं। वह सोचते हैं हमारी इतनी उम्र हो चली और इसने हमें पूछा तक नहीं! यदि किसी ने

पूछ लिया कि– दद्दा! ठीक है? कुशल है? वह कहने लगते हैं– हाँ बचवा! बहू बड़ी होनहार मिल गयी है, साक्षात् लक्ष्मी है, हमारी नींद बाद में खुलती है, चाय पहले ही लाकर रख देती है। किसी ने और पूछ लिया– क्यों बाबा! कुशल तो है? वह कहेंगे– हाँ बेटा! पनत पैदा हुआ है, बेटे का प्रमोशन हो गया है। हमें भी वृद्धा-पेंशन मिल रही है। यह कुशल.....वह कुशल..... कहते-कहते लोग मरते जा रहे हैं। यह कुशल नहीं, काल का फेंका हुआ फन्दा है। पौत्र-प्रपौत्र देखते-देखते हम हो गये निन्यानबे साल के! वह क्षण आ गया जो इस शरीर की आयु का अन्तिम क्षण है। पौत्र का मुख तो हमने देखा लेकिन जिसके लिए यह दुर्लभ तन मिला था, उसके लिए तो हमने सोचा ही नहीं। दो कदम चले नहीं, इतने में प्राण-पखेरू उड़ गये।

कह कबीर एक राम भजे बिन बाँधे जमपुर जासी।

एक परमात्मा के चिन्तन का उपदेश कबीर ने दिया। उसी एक परमात्मा का चिन्तन तुलसी ने दिया। एक परमात्मा के ही चिन्तन पर पूरी गीता खड़ी है। इतना ही नहीं, विश्व में जिसने भी धर्म की परिभाषा दी है, गीता का ही थोड़ा-थोड़ा अनुवाद लिया है कि एक ईश्वर ही सत्य है, उसके अतिरिक्त सबकुछ नश्वर है। भले ही वह महापुरुष पढ़ा-लिखा हो या फुटपाथ पर मिला हो, वह संसार के चाहे जिस परम्परा में खड़ा हो, अन्त में सिमट कर एक ही भाषा बोलेगा, एक ही निष्कर्ष पर पहुँचेगा, दूसरा कुछ वह कह ही नहीं सकता। यदि वह दूसरा कुछ कहता है तो उसने अभी पाया नहीं।

उड़ि माखी तरुवर को लागी बोले एकै बानी।

यह मनरूपी मक्खी, हैजा फैलानेवाली, रोग की जड़ मक्खी क्रमशः उत्थान करते-करते **'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्'** *(गीता, 15/1)* जब मूल परमात्मा का स्पर्श पा जाता है, तो **'बोलै एकै बानी'**– वह कहता है कि ईश्वर एक है। ऐसा महापुरुष समाज में दरार नहीं डालता। ऐसे ही महापुरुषों में से एक इकाई कबीर भी थे। उनके चिन्तन का नाम राम! उनके आराध्य एक इष्ट राम थे। सगुण उपासक थे कबीर।

जब कबीर अपनी स्थिति में आ गये तो चर्चा का विषय हो गये– कबीर साहब बहुत अच्छे महापुरुष हैं; उन्होंने कहा तो कुछ नहीं लेकिन हमारा कल्याण हो गया; यह विपत्ति टल गयी; उनकी वाणी में ओज है; हमारे रास्ते की रूकावटें दूर हो गयीं; वह बड़े पहुँचे हुए महात्मा हैं.....। कबीर ने सुना तो बिगड़ पड़े– क्या कबीर-कबीर की रट लगाये पड़े हो?

कबिरा कबिरा क्या कहे, सोधो सकल सरीर।
आसा तृष्णा बस करे, सोई दास कबीर॥

कबीर अच्छे! कबीर महात्मा! क्या व्यर्थ की रट लगाये हो? **'सोधो सकल सरीर'**– सकल शरीर अर्थात् शरीर कई हैं। एक तो स्थूल शरीर जो पंचभौतिक पदार्थों से निर्मित पिण्ड है। इसके अन्तराल में सूक्ष्म शरीर है जो मन का संसार है। उसके भी अन्तराल में कारण शरीर है। यह परमात्मा की वह प्रशक्ति है जिसके द्वारा जीवन शक्ति के रूप में प्रवाहित है। परमात्मा के तेज के अंशमात्र से सृष्टि का सृजन, पालन और परिवर्तन है। सबका कारण तो वह है। क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण– इन तीनों शरीरों की शोध कर लो किन्तु आशा और तृष्णा के रहते हुए यह शोध सम्पन्न नहीं होती। हाँ, **'आसा तृष्णा बस करे सोई दास कबीर।'** इतना हमने किया, इतना आप ही कर लें तो आप भी कबीर हैं। महापुरुष एक स्थिति है, न कि वह हो गये और अब कोई होगा ही नहीं। गुरु जिसको अपनाता है तो जिस गुरुत्व में स्वयं निमग्न है, शनैः-शनैः उसी स्थिति को दिलाकर गुरु ही बना देता है, चेला ही बनाकर नहीं छोड़ देता। कबीर प्रोत्साहन देते हैं कि इतना ही मैंने किया है, इतना ही तुम करो तो तुम भी कबीर हो जाओगे।

कबीर के पदों में कुछ पद तो भजन की आरम्भिक अवस्था के द्योतक हैं, कुछ में साधना में मिलनेवाली विभूतियों का चित्रण है, कहीं प्राप्तिकाल और कुछ में प्राप्ति के पश्चात् संतों की रहनी का चित्रण है; किन्तु प्रस्तुत भजन चेतावनी और साधकों का उद्बोधन है–

जल बीच मरत पियासा। रे धोबिया जल ही में मरत पियासा।

धोबी वस्त्रों का मैल साफ करता है। कैसा भी दाग हो, धोबी छुड़ा देता है किन्तु वस्त्रों का रंग धोबी भी नहीं छुड़ा पाता। इसी तरह कबीर ने सद्गुरु को धोबी की उपमा दी है– **'सतगुरु धोबिया से परिचय नाहीं।'** अन्तःकरण में मल-आवरण विक्षेप के संस्कार, कर्मों के दाग की धुलाई कर जीवात्मा को उसके विशुद्ध स्वरूप का दर्शन, स्पर्श और उसमें स्थिति दिलाने में यदि कोई समर्थ है तो सद्गुरु है। सद्गुरु ही धोबी है। किन्तु सद्गुरु भी शिष्य को कुछ देते नहीं, शिष्य के ही गड़े हुए धन को उसे बता देते हैं। वह मार्गदर्शन करते चलते हैं कि यह रास्ता है, इधर प्रकाश है। जहाँ भी साधक लड़खड़ाने लगता है वहाँ उसे प्रोत्साहन देते हैं किन्तु चलना तो साधक को ही पड़ता है इसलिए साधना की जागृति के पश्चात् शिष्य भी धोबी है। यदि शिष्य चलने ही वाला नहीं है तो गुरु क्या करेगा?

ऊपर भरे, नीचे झरे, उनका गुरु गोरख क्या करें?

* * *

आपै मूल फूल फुलवारी, आपै सींचनहारा।।

आप स्वयं धोबी हैं। पहले सद्गुरु धोबी हैं। उनकी शरण-सान्निध्य-सेवा से साधना जहाँ जागृत हुई, आप भी धोबी हैं, आपको अब स्वयं चलना पड़ेगा किन्तु बहुत से साधक साधना समझकर भी दायें-बायें समय काटते रहते हैं। उन्हें प्यास है, तड़प भी रहे हैं किन्तु साधना में समय नहीं दे पाते। ऐसे ही साधक को लक्ष्य कर कबीर कह उठते हैं– **'जल बिच मरत पियासा।'** एक जल है विषयवारि तो दूसरा है ब्रह्मवारि।

जो संतोष-सुधा निसिबासर सपनेहुँ कबहुँक पावै।
तौ कत बिषय बिलोकि झूँठ जल मन कुरंग ज्यों धावै।।

(विनयपत्रिका, 168)

अध्यात्म-पथ के संतों ने दो रस बताये– एक तो विषय-रस, दूसरा ब्रह्मपीयूष! यह ब्रह्मपीयूष सबके हृदय में है। उसी में साधक खड़ा है और उसी की प्यास से मर रहा है; क्योंकि **'जल में ठाढ़ चीन्हत नहिं मूरख'**– वह

जल में ही खड़ा है किन्तु जड़तावश उसे पहचानता ही नहीं है जबकि चारों ओर '**अच्छा जल है खासा**'– पर्याप्त स्वच्छ जल है।

अपने घर का मरम न जाने, करे धोबियन की आसा।

एक तो यह सांसारिक घर है जहाँ हम छप्पर डालकर रहते हैं, मनुष्य जहाँ निवास करता है; किन्तु मृत्यु के पश्चात् '**सोइ पुर पाटन सो गली, बहुरि न देखा आइ।**' इस घर को कोई लौटकर देखने भी नहीं आता। एक घर है आपका हृदय। उसे घट भी कहते हैं, घर भी कहते हैं। व्यक्ति अपने घट का, अपने अन्दर का रहस्य ही नहीं जानता कि घट में क्या है? स्थिति क्या है? वृत्ति किधर प्रवाहित है? उसकी जाँच-पड़ताल नहीं करता, स्वयं जागृत नहीं है और '**करे धोबियन की आसा। रे धोबिया....**'– वह अन्य धोबियों की आशा करता है कि कोई महापुरुष कर दे, दिखा दे, हमें करना न पड़े। यदि बिना किये मिलता तो भगवान श्रीकृष्ण अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को कर्म का उपदेश क्यों करते? उन्होंने कहा– "अर्जुन! बिना कर्म किये न किसी ने पाया है और न ही भविष्य में कोई प्राप्त कर सकेगा; किन्तु कर्मों के परिणाम में जिन्हें आत्मा विदित है, जो आत्मतृप्त है, आत्मस्थित है उस पुरुष के लिए किञ्चित् भी कर्त्तव्य शेष नहीं है और न प्राप्त होने योग्य कोई वस्तु अप्राप्त ही है इसलिए तू कर्म कर।"

साधन तो साधक को ही करना पड़ेगा जबकि अधिकांश साधक स्वयं अपने हृदय का विश्लेषण नहीं करते कि चिन्तन में कितना लग पा रहा हूँ?; कितना समय किस चिन्तन में व्यतीत हो रहा है?; और '**करें धोबियन की आसा**' कि कोई कृपा करके दे देगा। आरम्भिक स्तर का साधक ऐसा ही सोचता है; किन्तु लगन सभी साधकों में होती है–

छन में धोबिया रोवै धोवै, छन में होत उदासा।

एक क्षण में वह प्रार्थना में लग जाता है– भगवन्! क्या हम ही एक ऐसे हैं कि हमारी सुनवाई नहीं होगी? '**तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।**' *(विनयपत्रिका, 79)* विनय करने लगता है। दूसरे ही क्षण वह

उदास हो जाता है कि पता नहीं भगवान हैं भी या नहीं! मेरे जैसे पापी की पुकार क्यों सुनेंगे? वह बहाने ढूँढ़ने लगता है।

अपने हाथ से बरि के रसरिया, अपनी गटइया में फाँसा।
रे धोबिया.....

उसने अपने ही हाथों कर्म की रस्सी बनाकर अपने ही गले को फँसा लिया है और अब व्यर्थ ही टालमटोल कर रहा है। कर्म ही एक ऐसी रस्सी है जिसमें सभी जीव बँधे हुए हैं–

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा।।
(मानस, 2/218/4)

* * *

कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके। *(गीता, 15/2)*

महाभारत में कथा आती है कि जब द्रौपदी का स्वयंवर हो गया, पाण्डवों की खुशी का वारापार नहीं था। अर्जुन और भीम द्रौपदी को लेकर माता कुन्ती के पास गये और कहा– "माताजी! आज बड़ी उत्तम भिक्षा पाये हैं।" कुन्ती ने बिना देखे ही कह दिया– "ठीक है, पाँचों भाई आपस में बाँट लो।" कुन्ती ने घूमकर देखा तो पूछा– "यह देवी कौन हैं?" भीम ने कहा– "यह काम्पिल्य की राजकुमारी हैं।" कुन्ती ने कहा– "ओह! इस देवी को तुमलोगों ने भिक्षा बताया। माँ से भी विनोद किया तुमलोगों ने! ठीक है, अब बाँटकर दिखाओ।"

भीम और अर्जुन इस नयी व्यवस्था में परेशान थे कि युधिष्ठिर आ गये। दोनों भाइयों ने अपनी भूल और माताजी की आज्ञा से उन्हें अवगत कराया, बोले– "भैया! कोई उपाय करो।" धर्मात्मा युधिष्ठिर ने कहा– "माताजी का आदेश हमलोगों ने कभी टाला ही नहीं।" तब तक वहाँ भगवान श्रीकृष्ण भी आ गये। उन सबने कहा– "प्रभो! हमें इस संकट से बचाइए।" श्रीकृष्ण ने कहा– "हूँ! बुआ के वचन का पालन तो करना ही होगा।" सबने कहा– "प्रभो! आप भी यही कह रहे हैं।"

श्रीकृष्ण ने कहा– "इस समस्या का उत्तर तो स्वयं द्रौपदी है। पिछले जन्म में अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर इसने शिव की आराधना की। भोलेनाथ जब प्रसन्न हुए तो इसने वरदान माँगा– "भगवन्! ऐसा पति दें जो सम्पूर्ण धर्मात्मा हो।" शिव ने कहा– "एवमस्तु!" इसने पुनः कहा– "वह सबसे बलशाली हो।" उन्होंने कहा– "तथास्तु!" इसने पुनः कहा– "भगवन्! वह सबसे बड़ा धनुर्धर हो।" भोलेनाथ ने कहा– "ठीक ऐसा ही होगा!" इसने पुनः कहा– "भगवन्! वह सबसे सुन्दर हो।" शंकर ने कहा– "जैसी तुम्हारी इच्छा!" इसने कहा– "भगवन्! वह विद्वान और विनयी हो।" भगवान ने कहा– "अच्छा! अच्छा!! सब होगा।" और अन्तर्धान हो गये। भोलेनाथ का पहला वरदान हैं युधिष्ठिर – सम्पूर्ण धर्मात्मा! उनके दूसरे वरदान के रूप में भीम हैं; इनसे बलशाली इस समय संसार में कोई नहीं है और न इनके जीवनकाल में कोई होगा। तीसरा वरदान सबसे बड़े धनुर्धर के रूप में अर्जुन हैं। चौथा वरदान अप्रतिम सौन्दर्यसम्पन्न नकुल हैं और पाँचवाँ वरदान हैं सहदेव जो विद्वान भी हैं, विनयी भी हैं। द्रौपदी! अपने कर्मों का भार तो उठाना ही पड़ता है। तुम्हें वरदान माँगते समय ही यह ध्यान में रखना चाहिए था कि पाँचों उत्तम गुण किसी एक व्यक्ति में सम्भव ही नहीं है। तुम्हें एक पति की आवश्यकता थी लेकिन तुमने पाँच बार माँगा, भोलेनाथ ने पाँच बार 'तथास्तु' कहा। ये वही पाँच वरदान हैं। अब भोलेनाथ के आशीर्वाद को मिटा सको तो देख लो।"

समाधान हो गया। **'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'**– कर्म शुभ हों या अशुभ, उनका परिणाम भुगतना ही होता है। यही है **'अपने हाथ से बरि के रसरिया, अपनी गटइया में फाँसा। रे धोबिया! जल बिच मरत पियासा।'** सारांशतः आपका विशुद्ध स्वरूप अविनाशी, चिन्मय, शाश्वत और परम चेतन है। आपका वह स्वरूप छिपा हुआ है। बीच में कुछ पर्दे पड़े हैं, दाग लगे हुए हैं। आप उन कर्मों के लेख या संस्कारों को धोने में सक्षम हैं। उन दागों की धुलाई कर अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं; किन्तु कल पर टालते रहते हैं, इसलिए जल में खड़े रहकर भी आप उसे

पहचान नहीं पा रहे हैं। अपने हृदय का विश्लेषण न कर धोबियों से आशा लगाये बैठे हैं। कबीर यह भी बताते हैं कि ऐसा भी नहीं है कि हम-आप भजन न करते हों। सभी भजन करते हैं किन्तु उन्हें सही तरीका मालूम नहीं है।

साँचा साबुन लेइ न मूरख, है सन्तन के पासा।

बाजार में नकली साबुनों की भरमार है। सच्चा साबुन संत कबीर की दृष्टि में वह है जिससे अन्तःकरण के दाग धुल जायँ, जिससे विशुद्ध स्वरूप का दर्शन, स्पर्श और स्थिति मिल जाय। लेकिन जड़तावश हम उसे लेते ही नहीं– **'साँचा साबुन लेइ न मूरख'**। कहाँ मिलेगा वह साबुन? **'है सन्तन के पासा'**– वह तो सन्तों के पास ही है।

सती अनुसुइया आश्रम चित्रकूट में कभी-कभी विश्वविद्यालय के बुद्धिजीवियों का समूह पहुँच जाया करता था। क्षेत्रीय भाविक उनका परिचय गुरु महाराज को देते– "भगवन्! यह वाइस-चान्सलर हैं, यह प्रोफेसर हैं। दर्शनशास्त्र पर आपका अधिकार है। जितने भी बच्चे पी-एच.डी. पास करते हैं, आप ही की कलम से होता है।" कुछ देर तक तो वह लोग अपनी जानकारी के अनुसार कुछ कहते थे, पुनः वे सब महाराज जी से अनुरोध करते– "महाराज! हमने द्वैत-अद्वैत-विशिष्टाद्वैत और विश्व के दार्शनिकों का मत-मतान्तर पढ़ा है किन्तु साधन समझ में नहीं आता। हम लोग भजन कैसे करें, कृपया साधन बता दीजिए।"

गुरु महाराज उनसे कहते थे– "हो! सब बात सब कोई जानत है। दो-दो पैसे में वेदान्त बिकत है। लोग पढ़ते हैं और लिखते भी चले जा रहे हैं। न जाने वे क्या पढ़ते हैं और क्या लिखते हैं? किन्तु भजन ही एक ऐसी वस्तु है जो कलम से लिखने में नहीं आती है और न वाणी से कहने में ही आता है। यह तो किसी अनुभवी सद्गुरु के द्वारा किसी-किसी अनुरागी के हृदय में जागृत हो जाया करती है। भजन एक जागृति है।"

जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥

(मानस, 7/48/1–2)

सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई।।

(मानस, 7/119/18)

जप, तप, नियम, वेद में वर्णित नाना प्रकार के शुभ कर्म, ज्ञान, दया, इन्द्रियों का दमन, तीर्थों में मज्जन इत्यादि जहाँ तक सृष्टि में धर्म के लक्षणों का वेदों और सत्पुरुषों ने वर्णन किया है, उन सबका फल एकमात्र हरि की भक्ति है और '**सो बिनु संत न काहूँ पाई।**' बगैर सन्त के आज तक किसी ने पाया ही नहीं।

रामचरितमानस से ही एक अन्य उद्धरण लें। भगवान राम पंचवटी में हैं। लक्ष्मण ने छलहीन कुछ प्रश्न रखा कि "भगवन्! माया क्या है? ब्रह्म क्या है? जीव क्या है? ईश्वर क्या है? और सुख का स्रोत क्या है?" भगवान ने कहा–

भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला।।

(मानस, 3/15/4)

हे तात! भक्ति अनुपम सुख का मूल है, 'अनुपम' अर्थात् जिसकी कोई तुलना नहीं, कोई उपमा नहीं है। लक्ष्मण ने अनुरोध किया– प्रभो! उसे प्रदान कर दें। भगवान ने कहा कि वह तो '**मिलइ जो संत होइँ अनुकूला।**'– वह मिलेगी तभी जब सन्त अनुकूल हों। संत का मिलना पर्याप्त नहीं है बल्कि जब वह अनुकूल हों तभी भक्ति मिल सकती है। इसीलिए साधन-भजन ही एक ऐसी वस्तु है जो न तो लिखने में आती है और न ही वाणी से कहने में आती है। वाणी से तो दिन-रात हम-आप सुनते ही रहते हैं कि श्वास का चिन्तन ऐसे करो, ध्यान ऐसे धरो, समाधि का यह स्वरूप है.....इत्यादि। जीवनपर्यन्त पढ़ते, सुनते और लिखते रहें; किन्तु भजन तो संतों की सेवा से ही जागृत होगा।

आदिशास्त्र गीता में अर्जुन ने इसी प्रश्न को रखा कि भगवन्! उस चरमोत्कृष्ट ज्ञान को मैं कैसे प्राप्त करूँ? भगवान श्रीकृष्ण ने कहा–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।। *(गीता, 4/34)*

अर्जुन! किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के पास जाकर, निष्कपट भाव से सेवा और प्रश्न-परिप्रश्न कर तू उस ज्ञान को प्राप्त कर। स्वयं भगवान अर्जुन के समक्ष थे, उन्हें अर्जुन को किसी तत्त्वदर्शी के पास भेजने की क्या आवश्यकता थी? वस्तुतः गीता-आलोकप्रदाता भगवान श्रीकृष्ण भी एक महायोगेश्वर हैं। वह परम तत्त्व परमात्मा में स्थित और परमात्मा स्वरूप हैं। वह जानते थे कि आज का साधक तो मेरे समक्ष है किन्तु भविष्य की पीढ़ी को कहीं सन्देह न हो जाय कि श्रीकृष्ण तो गये, विभूतियाँ भी उन्हीं के साथ गईं, अब हम कैसे प्राप्त करें? उक्त श्लोक में भगवान का आशय है कि तत्त्वदर्शन एक स्थिति है। जिसने भी उस परम तत्त्व परमात्मा को विदित कर लिया, वह तत्त्वदर्शी है। जैसे श्रीकृष्ण, वैसे ही वह महापुरुष! इसलिए उन्होंने अर्जुन को माध्यम बनाकर कहा– किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के पास जाओ। वे तत्त्व के ज्ञाता तुझे उपदेश करेंगे।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव। *(गीता, 4/35)*

उनसे जान लेने के पश्चात् जीवन में तुझे भ्रम नहीं होगा कि यह रास्ता सही है अथवा वह रास्ता। कोई सन्देह नहीं रह जायेगा और तुम पा जाओगे।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ *(गीता, 4/38)*

अर्जुन! ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह सृष्टि में कुछ भी नहीं है, किन्तु वह मिलेगा कहाँ? **'तत्स्वयं'**– उसे तू स्वयं योग के आरम्भ में नहीं, योग के मध्य में नहीं, योग की परिपक्व अवस्था में **'आत्मनि विन्दति'**– हृदय-देश में साक्षात् करोगे। इस प्रकार धर्मशास्त्र गीता के अनुसार भजन की जागृति किसी तत्त्वदर्शी से है। यही कबीर कह रहे हैं कि **'साँचा साबुन लेइ न मूरख'**– सच्चा साबुन अर्थात् शाश्वत उपचार जो अन्तःकरण के स्वरूप को धोकर परमतत्त्व का साक्षात् करा दे, उसे विदित करा दे; यह तो जड़तावश हम ले नहीं पाते। **'है सन्तन के पासा'**– वह सन्तों के पास है। सद्गुरु से ही भजन की जागृति है।

दाग पुराना छूटत नाहीं, धोवत बारह मासा। रे धोबिया......

पुराना दाग, जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार, इनका पुरातन दाग '**छूटत नाहीं, धोवत बारह मासा।**' सभी अहर्निश अपनी समझ से धुलाई ही तो कर रहे हैं। कभी कोई एकादशी व्रत रहता है, तो कहता है कि अब अपना घर-बार देखो। आज है मंगलवार, आज हम संकटमोचन का दर्शन करेंगे। कोई कहता है– आज कारबार बन्द, हम गंगा-स्नान करेंगे। कभी कोई व्रत तो कभी कोई अनुष्ठान! हर व्यक्ति धुलाई करने में ही लगा है किन्तु पुरातन दाग छूट नहीं पा रहा है; क्योंकि वह सच्चे साबुन का प्रयोग नहीं कर रहा है। वह साबुन केवल सन्तों के पास है। अन्य-अन्य तरीकों से बारहों महीने धुलाई करते रहें, पुरातन दाग नहीं छूटता। उसके लिए तो सद्‌गुरु ही धुलाई करने में समर्थ धोबी हैं और उनकी साधना समझकर चलनेवाला अनुरागी पथिक भी धोबी है। अन्त में यह महापुरुष निर्णय देते हैं कि भजन में किया क्या जाता है?

एक राति का जोर लगावे, छूट जात भरमासा।

सन्त कबीर कहते हैं कि यदि एक रात का जोर इस पथ में लगाते हो तो आपका भरम और आशाएँ समाप्त हो जायेंगी। एक रात्रि तो पृथ्वी पर ग्रहों की गति से है। उत्तरी गोलार्द्ध पर दिन के एक बजे हैं तो दक्षिणी गोलार्द्ध में रात्रि के एक बजे होते हैं। किन्तु आध्यात्मिक परिवेश में जगत् ही एक रात्रि है–

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।' *(गीता, 2/69)*

अर्जुन! इस जगत्‌रूपी रात्रि में सभी प्राणी निश्चेष्ट पड़े हैं। जैसे बेहोश व्यक्ति के ऊपर सर्प ही फेंक दो, वह कोई प्रतिक्रिया नहीं करेगा। इसी प्रकार जगत्‌रूपी रात्रि में सभी प्राणी निश्चेष्ट पड़े हैं। इनमें संयमी पुरुष जग जाता है। यही रामचरितमानस में है–

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा।।

(मानस, 2/92/2)

मोहरूपी रात्रि में सब शयन कर रहे हैं। जो रात-दिन दौड़-धूप कर रहे हैं, मानो स्वप्न देख रहे हैं, संसार ही तो जुटा रहे हैं।

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजनु जगत सब सपना।।

(मानस, 3/38/5)

सब स्वप्न ही तो देख रहे हैं। एक सपना घड़ी दो घड़ी का होता है जबकि जीवन का सपना साठ-सत्तर साल का है। यह थोड़ा लम्बा है....और क्या? भगवान श्रीकृष्ण ने बताया था कि संयमी पुरुष जाग जाता है। जागने का तरीका है संयम! यही मानस में है कि–

एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी।।

(मानस, 2/92/3)

इस जगत्‌रूपी रात्रि में योगी जग जाता है। जगे हुए के क्या लक्षण हैं? **'परमारथी प्रपंच बियोगी'**– वह परम अर्थ परमात्मा के लिए प्रयत्नशील होता है। वह प्रपंच से उदासीन रहता है। घर-गृहस्थी के कार्य मात्र कर्त्तव्य समझकर औपचारिकतावश करता है, उसमें आसक्त नहीं होता। उसकी श्रद्धा का केन्द्र परमात्मा होता है, मुख्य ध्यान वह परमात्मा के लिए लगाता है।

यही संत कबीर का भी आशय है कि जगत् की मोहनिद्रा में हम जितना जोर लगाये पड़े हैं, मन-क्रम-वचन से भला-बुरा सोचकर, दाव-पेंच लगाकर, दूसरों की नज़र बचाकर अपनी सारी शक्ति सुत बित लोक ईषणाओं में लगाते हैं, इन्हें उधर से समेटकर प्रभु के चरणों में, सुमिरण में, साधना में लगा दें। इस प्रकार उधर का जोर इधर लगाने से **'छूटि जात भरमासा'**– भरम और आसा सदा के लिए छूट जायेंगे। भ्रम समाप्त हो जायेगा और आगे कोई सत्ता बचेगी ही नहीं जिसकी हम आशा करें। यदि परमात्मा से भी आगे कुछ होता तो हम उसकी आशा अवश्य करते। मोहनिशा में लोग जोर कहाँ लगाते हैं? यह मातृ-ऋण, पितृ-ऋण, भ्रातृ-ऋण, यह कर्त्तव्य, वह दायित्व! भगवान राम ने बताया–

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा।।

(मानस, 5/47/4)

जननी माने माता, जनक माने पिता, बंधु, सुत, धन, धाम, इज्जत-प्रतिष्ठा,

सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

(मानस, 5/47/5)

इन सबके प्रति ममत्व के जो धागे लगे हुए हैं, उनको समेटो और ममत्व के इन धागों की रस्सी बनाकर मन को मेरे चरणों में बाँध दो। ममता का संचार मन का प्रसारण है, यह ममता परमात्मा के प्रति हो जाय।

तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥

(मानस, 5/47/3)

जो मद-मोह-छल-कपट त्यागकर मेरी शरण में आ जाता है, भगवान कहते हैं कि मैं तत्काल उसे साधु के समानान्तर स्थिति प्रदान कर देता हूँ। साध्य सुलभ हो जाता है। अतः वह जोर जो ममत्व के धागों में लगा है, उसे समेटकर भगवान के चरणों में लगायें। भगवान ने आपको जिस परिस्थिति में रखा है वह सारा काम-धंधा करें किन्तु नौकर की तरह निरपेक्ष रहते हुए! श्रद्धा और समर्पण प्रभु के चरणों में हो।

भजन के लिए घर छोड़ने की जरूरत नहीं है। भजन करने के लिए गृहस्थ या विरक्त का दरार नहीं है। केवल एक योग्यता चाहिए कि '**बड़ें भाग मानुष तनु पावा।**' यदि दुर्लभ मानव-तन उपलब्ध है तो आपका कर्त्तव्य-पथ यही है। जिस परिस्थिति में प्रभु रखें, उसमें रहते हुए अपना मन प्रभु के चिन्तन में लगायें। शेष कार्य अपना कर्त्तव्य समझकर करें, ठीक उसी प्रकार जैसे कारखाने में कर्मचारी आते हैं, गोदाम में माल रखते हैं, निकालते हैं; सामान की क्षति या लाभ-हानि से उन्हें बहुत मतलब नहीं रहता; अवकाश ले लिया तो कारखाने की चिन्ता ही नहीं। ऐसे ही संसार एक कारखाना-जैसा है। इसमें जननी-जनक, धन-धाम, इज्जत-प्रतिष्ठा में ममत्व के धागे बिखरे पड़े हैं। ऐसे गृहासक्त मन को समेटते जायँ, प्रभु के चरणों में अधिक समय दें और गृहस्थी के कार्य भी करते रहें। एक पद में कबीर ने कहा है–

या विधि मन को लगावै, मन के लगाये प्रभु पावै।
जैसे नटवा चढ़त बाँस पर, ढोलिया ढोल बजावै।
अपना बोझ धरै सिर ऊपर, सुरत बाँस पर लावै।।
या विधि.....

जैसे भुवंगम चरत बनहिं में, ओस चाटने आवै।
कबहूँ चाटि कबहुँ मणि चितवै मनि तजि प्रान गँवावै।।
या विधि.....

जैसे कामिनि भरै कूप जल, कर छोड़े बतरावै।
अपना रंग सखियन संग राचै, सुरत गगरि पर लावै।।
या विधि.....

जैसे सती चढ़त सत ऊपर, अपनी देह जरावै।
माता पिता कुटुम सब त्यागै, सुरति पिया पर लावै।।
या विधि.....

धूप दीप नैवेद्य अरगजा, ज्ञान की आरति लावै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, फेर जनम नहिं पावै।।
या विधि.....

सारांशतः सांसारिक कार्यों में आसक्त न हों। हर कार्य करते समय प्रभु का स्मरण बना रहे। घर छोड़ा नहीं जाता, भजन की एक अवस्था आती है, घर अपने आप छूट जाता है। जन्म के समय दाँत नहीं उगते, दाढ़ी नहीं जमती; एक अवस्था पश्चात् दाँत भी उग आते हैं, दाढ़ी भी निकल आती है। इसी प्रकार अवस्था आने पर घर अपने आप छूट जाता है। भला कोई फलता-फूलता घर कैसे छोड़ देगा? फुदकते हुए बाल-गोपाल से विमुख कैसे हो जायेगा? लेकिन जब अवस्था आती है, भगवान वैसी व्यवस्था दे देते हैं और सब हो जाता है। आज हम जिनको देखे बिना जी नहीं सकते, जीना भी नहीं चाहते, समय आने पर आपके ही घर में आपके लिए जगह नहीं रह जायेगी, आप उधर देखना भी नहीं चाहेंगे, सब काल जैसे प्रतीत होंगे, यदि प्रभु प्रेरक के

रूप में खड़े हो जायँ। अतः **'एक रात का जोर लगावै'**; अविद्या रात्रि है, ईश्वर प्रकाश है। मन-क्रम-वचन से जितनी शक्ति आप अविद्या में खर्च करते हैं, उसे केवल एक प्रभु के चरणों में लगा दें। फिर तो कोई सत्ता बचेगी ही नहीं जिसकी आप आशा करें; आप प्राप्त कर लेंगे।

कहत कबीर सुनो भाई सन्तो, आछत अन्न उपासा।
रे धोबिया....

कबीर कहते हैं– सन्तो! ध्यान दें। विशुद्ध अन्न परसा रखा हुआ है फिर भी जीव एक ग्रास के लिए तड़प रहा है। वह उपवास कर मर रहा है। शरीर की खुराक अन्न, रोटी-दाल इत्यादि है जिससे जीवनयापन होता है; किन्तु आत्मा की खुराक भजन है। भजन ही भोजन है जिसके द्वारा आत्मा शनैः-शनैः तृप्त और स्वरूपस्थ हो जाती है। फिर से कभी भूख नहीं लगती, कभी प्यास नहीं लगती। आगे कुछ है ही नहीं तो वह किसकी तृष्णा करेगा?

भजन न करने के लिए जीव तरह-तरह के बहाने गढ़ लेता है, जैसे अभी हम पवित्र नहीं हैं या यह जगह पवित्र नहीं है; किन्तु भगवत्पथ में किसी पवित्र जगह की जरूरत नहीं है। कमरे में फूल बिछाकर, इत्र छिड़ककर बैठें; यदि हृदय में श्रद्धा नहीं, समर्पण नहीं, भाव नहीं है, सुमिरण नहीं है, कण्ठ पर नाम नहीं है, स्मृति में प्रभु का चिन्तन नहीं है तो वह जगह अपवित्र है। मात्र बाहरी साज-सज्जा आगे कहीं न कहीं आपको पतन के गर्त में फेंक देगी।

इसलिए आप किसी भी परिस्थिति में क्यों न हों, चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, शौच जाते, खुरपी चलाते, गलीचा बुनते – हर काम करते प्रभु का नाम – ओम् अथवा राम – याद आया करे। वैदिक ऋषियों ने ओम् का जाप जपा। जब संस्कृत भाषा के पढ़ने, उच्चारण करने और ओम्-जप के अधिकार-अनधिकार पर कड़े प्रतिबन्ध लग गये तो भक्तिकालीन ऋषियों ने रामनाम के जपने पर बल दिया। दोनों शब्दों का आशय एक है, परिणाम एक है। ओ माने वह अविनाशी परमात्मा, अहं माने आप स्वयं; अर्थात् वह परमात्मा जिसका निवास आपके हृदय में है। इसी तरह राम– **'रमन्ते**

योगिनः यस्मिन् स राम'– जिसमें योगी लोग रमण करते हैं, परमात्मा का वह अनुभव हृदय में जागृत होता है, वह राम जो सबके हृदय में रमण करता है। इस प्रकार दोनों शब्दों का आशय एक ही है। अन्तर इतना ही है कि भक्तिकालीन राम वैदिक ऋषियों के ओम् का अनुवाद है।

अतः विश्व के किसी भी भाषा के छोटे से दो-ढाई अक्षर के नाम का स्मरण सदैव बना रहे। कार्य करते समय नाम याद आया करे तो सोने में सुहागा है। सुबह-शाम बैठकर आधा घण्टा समय जप में अवश्य दें। वज्र पड़ रहा हो, घर में लाश ही क्यों न पड़ी हो, पाँच मिनट समय नाम-जप में अवश्य दें, नियम खण्डित न होने पाये। भगवान जानते हैं कि जीव मुझे पुकार रहा है। वह यह भी जानते हैं कि इसे क्या चाहिए, वह मिलेगा। भविष्य में आप जो चाहते हैं, वह भी मिलेगा और मोक्ष तो मिलना ही मिलना है। श्वास के रहते-रहते ईश्वर-पथ की साधना समझकर आपसे दो कदम रखते बन गया तो माया के पास ऐसा कोई यंत्र नहीं है कि आपकी की हुई साधना को मिटा दे। अगले जन्म में भी तीसरा ही कदम उठेगा और '**अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्**' *(गीता, 6/45)*– अनेक जन्मों के परिणाम में आप वहीं पहुँच जायेंगे जिसका नाम परमगति है, परमधाम है। शोचनीय वह है जिसने साधना-पद्धति समझा ही नहीं। इससे भी अधिक शोचनीय वह है, जिसने साधना समझकर भी दो कदम चला ही नहीं। लेकिन जो दो कदम भी चल चुका, उसका मोक्ष हो गया। आज तो देखने को नहीं मिला लेकिन उसके लिए मोक्ष का आरक्षण भली प्रकार हो गया; क्योंकि,

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्। *(गीता, 2/48)*

इस गीतोक्त साधन का स्वल्प अभ्यास भी जन्म-मृत्यु के महान भय से उद्धार करनेवाला होता है। इसमें आरम्भ का नाश नहीं, बीज का नाश नहीं है। दो-ढाई अक्षर के नाम के जप का नियम बना लें। हर परिस्थिति में श्रद्धा और समर्पण के साथ नाम याद आया करे, चाहे उस समय कैसा भी कार्य आप क्यों न कर रहे हों; खुरपी चलाते, गाय-भैंस दुहते या शौच जाते समय भी नामजप किया जा सकता है।

हमारे पूज्य गुरु महाराज जी बताते थे कि जब वह शौच के लिए बैठ जाते (दिगम्बर वेश में तो वह विचरण ही करते थे। आज यहाँ हैं तो कल पता नहीं कहाँ?) तो मन लग जाता। वह दो-एक घण्टा उसी अवस्था में बैठे ही रह जाते और तब कहीं जाकर पानी छूते थे। इसी आशय का एक कथानक इस प्रकार है–

एक सेठजी थे। उनका मन भजन में लग गया। दुकान-दौरी सब चौपट होने लगी। घरवाले चावँ-चावँ करने लगे। तब सेठ ने अपने गुरु महाराजजी से कहा कि "गुरु महाराज! घरवालों ने तो जीना मुश्किल कर दिया है; क्या करें?" उन्होंने कहा– "बेटा! कहीं टेढ़-सोझ दुकान खोलकर बैठ जा, घरवालों को संतोष हो जाय।" सेठ ने एक ऐसी तंग गली में दुकान खोली जो बाजार से थोड़ा हटकर थी। उस गली में लोगों का आना-जाना बहुत कम रहता था। सेठ ने सोचा– घरवाले भी देख लें कि दुकान तो खोल रखी है और यहाँ तो कोई आयेगा नहीं, दिनभर बैठकर भजन करूँगा।

किन्तु भगवान का मन कुछ और ही था। उस गली में सेठ की ऐसी साख जम गयी कि पाँच साल का बच्चा ही क्यों न भेज दो, सेठ उसे भी कभी कच्चा माल नहीं दे सकते। क्षेत्र में उनके सत्यता की लहर दौड़ गयी। अब उसी दुकान पर दिनभर भीड़ लगी रहती। तौलते-तौलते सेठ आठ बजे रात्रि को ही दुकान बन्द कर पाते थे। सेठ अपने को कोसते कि भगवन्! मेरा कहाँ का पाप प्रकट हो गया! आपका नाम भूल जाना चाहता है।

ज्योंही आठ बजते, सेठ दुकान बन्द कर लोटा लेकर नाले की ओर शौच के लिए निकल जाया करते थे। उस समय फ्लश सिस्टम के बाथरूम नहीं थे, नित्यक्रिया के लिए लोग दूर एकान्त में निकल जाते थे। सेठ नाले में टट्टी भी फिरते जाते और नाम भी जपते रहते। दिनभर की छटपटाहट जब शान्त हो जाय, नाम जपने की खुमारी जब पूरी हो जाय तो वह बारह-एक बजे रात्रि को घर आते। उन्हें रूखा-सूखा जो भी भोजन ढँका मिलता, चुपचाप खाकर सो रहते और प्रातः पुनः अपनी दुकान पर उपस्थित हो जाते। घर पर भूलकर भी नामजप या भजन नहीं करते थे अन्यथा सेठानी सबसे कहने लगती

कि बहिन! क्या बतायें। हमारे सेठ का माथा तो फिर खराब हो गया। पहले आँख मूँदते रहे, सुधर गये थे लेकिन अब तो फिर बिगड़ा चाहत हैं! सेठ जी अपना नामजप शौच के समय नाले में ही पूरा कर लेते थे।

एक दिन हनुमान जी की दृष्टि सेठ पर पड़ गयी। शौच के समय भगवान के पवित्र नाम का उच्चारण सुनकर उन्हें लगा कि यह बनिया-बक्काल की जाति मेरे भगवान का नाम भी अशुद्ध करने में लगा है। यह क्या जाने शुद्धि का नियम? इसे थोड़ी शिक्षा दे दूँ। उन्होंने पीछे से सेठ की पीठ में इस अंदाज से लात मारा कि यह मुँह के बल गिर जाय, दो-एक दाँत टूट जाय, इसे नसीहत मिल जाय; किन्तु बनिया टस से मस नहीं हुआ, नाम जप पूर्ववत् चलता रहा। अब हनुमान को रोष आ गया कि मेरे प्रहार से भी यह हिला तक नहीं, अब तो इसे समझाना ही होगा। उन्होंने दुपट्टा फेंका, शरीर को बढ़ाया और उछलकर सेठ को वह लात मारा जो कभी मेघनाथ की छाती में मारा था; किन्तु सेठ जस का तस! वह राम-राम-राम-राम जपता ही रहा।

'उर प्रेरक रघुबंस विभूषन' *(मानस, 7/112/1)* तुरन्त हनुमानजी के हृदय में भगवान की प्रेरणा हुई। हनुमान चौंके, अरे! हमने किस कुपात्री को छू दिया। लो, हम भी अशुद्ध हो गये। अब तो भगवान की सेवा में भी विलम्ब हो जाना चाहता है। हनुमान का कीर्तिमान था कि भगवान की सेवा में उनसे कभी देर हुई ही नहीं। अर्द्धरात्रि को आदेश मिला कि संजीवनी लाना है तो सूर्योदय के पहले ही बूटी आ गयी। उन्होंने तत्काल सरयू में डुबकी लगाया और पवित्र होकर भगवान के दरबार में हाजिर हो गये।

आज तो वहाँ का दृश्य ही कुछ दूसरा था। भगवान की कराह से पूरा महल गूँज रहा था। हनुमान ने पूछा– "प्रभो! ऐसी कौन-सी बीमारी हो गयी जिसका उपचार राजकीय वैद्य के पास भी नहीं है।" भगवान ने कहा– "हनुमान जी! कुछ पूछिये मत, आज तो हम लात ही लात बहुत मारे गये।" हनुमान रोष में आ गये, बोले– "प्रभो! संसार में ऐसा कौन है जो आपके ऊपर लात उठाये? आप उसका नाम बता दें, मैं तत्काल उसका सफाया कर देता हूँ।" भगवान ने कहा– "हनुमानजी! आपने ही तो मारी थी लात।" हनुमान

बोले– "प्रभो! इस सेवक से इतनी बड़ी भूल कैसे हो सकती है?" भगवान बोले– "क्या उस बनिये को मारा था?" हनुमान ने कहा– "प्रभो! किन्तु वह आपको कैसे लग गयी?" भगवान ने बताया–

जननी जनक बन्धु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँधि बरि डोरी॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धनु जैसे॥

"हनुमान जी! वह बनिया ममत्व के सारे धागे समेटकर मेरे चरणों में मन को बाँधकर जप कर रहा था। ऐसा सज्जन मेरे हृदय में निवास करता है। उसके कवच के रूप में तो मैं था। आपने उचक-उचककर जितने प्रहार किये, वह मुझे ही झेलने पड़े।"

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥
(मानस, 3/42/5)

शिशु की रक्षा जैसे मातायें करती हैं, उसी प्रकार मैं समर्पित भक्त की रक्षा करता हूँ। अतः भगवान की कृपा में कमी नहीं है, कमी है तो अपने अन्दर श्रद्धा की। इसलिए कबीर कहते हैं– **'एक रात का जोर लगावै'**। हम-आप कहाँ जोर लगाते हैं? जगत्‌रूपी रात्रि में!

तुलसी मन तो एक है, चाहे जिधर लगाय।
भावै हरि की भक्ति कर, भावै विषय कमाय॥

जितना जोर हम-आप संसार में लगाते हैं, उसे समेटें। भजन में बहुत पापड़ नहीं बेलना पड़ता। सम्पूर्ण मनोयोग से भजन में लगें। जहाँ-जहाँ श्रद्धा बिखरी है, उसे समेटें और दत्तचित्त होकर मन-वचन-कर्म से श्रद्धा समेट कर भगवान के चरणों में चित्त को बाँध दें। जो जोर उधर लगाते हैं, इधर चरणों में लगा दें। **'एक रात का जोर लगावै, छूट जात भरमासा।'**– फिर भरम समाप्त, आशा समाप्त! आगे किसकी आशा करें, ऐसा कुछ बचता ही नहीं। परम प्रभु की प्राप्ति के पश्चात् आप पूर्ण तृप्ति प्राप्त कर लेंगे।

कहत कबीर सुनो भाई साधो! आछत अन्न उपासा।

शुद्ध अन्न थाल में परस कर रखा हुआ है, फिर भी लोग उपवास कर रहे हैं। प्रभु तो केवल भाव के भूखे हैं– '**भाव बस्य भगवान सुख निधान करुना भवन।**'– भगवान भाव के वश में हैं, सुख के निधान हैं, करुणासागर हैं। इसलिए कोई भी जगह भजन के लिए अपवित्र नहीं होती। हाँ, वातावरण का प्रभाव मन पर पड़ता है। जगह स्वच्छ होती है तो मन भी स्वच्छ होता है। इसलिए स्वच्छ जगह में सुबह-शाम बैठकर आधा घण्टा चिन्तन अवश्य करें।

आप सबका धर्मशास्त्र गीता है। यह दुर्बल मानव-तन को दिया गया उपदेश है। गीता में भगवान कहते हैं कि अत्यन्त दुराचारी भी यदि मुझे भजता है तो वह साधु मानने योग्य है। अर्जुन! यदि कोई सृष्टि के सभी पापियों से भी अधिक पाप करनेवाला है तब भी ज्ञानरूपी नौका द्वारा निःसन्देह पार हो जायेगा, भले ही वह अंगुलिमाल का उस्ताद ही क्यों न हो। गीता पाप का निवारण है। यह पापी और पुण्यात्मा में दरार नहीं डालती। इसलिए भूल जाइये कि आपने कितना पाप किया, क्या पुण्य किया? अपने मन को समेट कर प्रभु के चरणों में लगा भर दें। श्रद्धा के साथ, समर्पण के साथ नामजप करें। भगवान जानते हैं कि जीव किसे पुकार रहा है? इसे क्या चाहिए? सबकुछ मिलने लगेगा। हमलोगों ने भगवान को पुकारा ही कब? पता नहीं सब किस-किसको पुकारते रहते हैं जबकि गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं–

रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्बान।
ग्यानवन्त अपि सो नर, पसु बिनु पूँछ बिषान॥

(मानस, 7/78)

वारि मथें घृत होय बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ, यह सिद्धान्त अपेल॥

(मानस, 7/122)

॥ बोलिये, सियावर रामचन्द्रजी की जय ॥

पानी बिच मीन पियासी

पानी बिच मीन पियासी, हो! मोहिं सुन सुन आवत हाँसी।
आतम ज्ञान बिना नर भटके कोई मथुरा कोई कासी।
जैसे मृगा नाभि कस्तूरी बन बन फिरत उदासी।।
रे मोहिं सुन सुन......

जल बिच कमल कमल बिच कलियाँ तापर भँवर निवासी।
सो मन बस तिरलोक भयो सब यती सती सन्यासी।।
रे मोहिं सुन सुन......

जाका ध्यान धरैं विधि हरि हर मुनि जन सहस अठासी।
सो तेरे घट माहिं विराजै परम पुरुष अविनाशी।।
रे मोहिं सुन सुन......

है हाजिर तोहि दूर दिखावै, दूर की बात निरासी।
कहै कबीर सुनो भाई सन्तो, गुरु बिन भरम न जासी।।
रे मोहिं सुन सुन......

कबीर एक महापुरुष हुए हैं। काशी में लहर तालाब पर एक शिशु के रूप में वे पड़े मिले। नीरू और नीमा नामक एक जुलाहा दम्पति ने उनका पालन-पोषण किया। संघर्षों में पले-बढ़े कबीर अंततः महापुरुष हो गये। उनका जीवन इस तथ्य का द्योतक है कि माता-पिता की भूलों से संतान के ईश्वर-पथ में कोई रुकावट नहीं आती। यही नहीं अपितु जितने भी वरिष्ठ महात्मा हुए हैं, अधिकांश सामाजिक कुलीनता में उनका कोई स्थान नहीं; किन्तु समाज के चोटी के महापुरुषों में उनका सर्वोपरि स्थान है। ऐसे ही एक महापुरुष थे कबीर!

कबीर के चिन्तन का नाम राम था। उनके आराध्य राम थे। उनकी अटपटी भाषा-शैली लोगों के समझ में नहीं आयी तो लोगों ने कहा– यह तो उलटवाँसी है। उलटवाँसी का तात्पर्य है– परस्पर विरोधी कथन करना; जिसके बहुत से अर्थ निकल सकते हों। आप कहें वह सही, हम कहें वह सही, कोई

कुछ कहता है वह भी सही! मान लें किसी को काशी जाना है। कोई कहता है– पूरब जाओ, कोई बताये पश्चिम चलो, कोई उत्तर तो कोई दक्षिण जाने का सुझाव दे रहा है। यदि आपने काशी से विपरीत दिशा में चलना आरम्भ कर दिया तो बहुत संभव है कि इस जीवन में आप काशी पहुँचे ही न। इससे बड़ा अनर्थ क्या हो सकता है? अर्थ उसे कहते हैं जो सारी भ्रान्तियों से उठाकर हमें प्रशस्त पथ पर खड़ा कर दे जिससे पथ में अनर्थ न रह जाय।

कबीर का छोटे से छोटा भजन भी ईश्वर-पथ की अलग-अलग अवस्थाओं का चित्रण है, किसी न किसी सन्देह का निवारण है; जैसे– भगवान रहते कहाँ हैं? जिसका हम भजन करते हैं, वह मालिक कहाँ मिलेगा? पूर्वजों ने भगवान को कहाँ पाया?

भगवान रहते कहाँ हैं?– इस प्रश्न का उत्तर कबीर ने भी दुहरा दिया है जो भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में बताया था। गीता के आरम्भ में भगवान श्रीकृष्ण पहले तो अर्जुन से बोले ही नहीं। प्रचलित मान्यताओं के सम्बन्ध में अर्जुन प्रश्न करता रहा, भगवान उत्तर देते रहे; किन्तु अठारह अध्याय तक पहुँचते-पहुँचते अर्जुन में भली प्रकार समझने की पात्रता आ जाने पर भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– अर्जुन! जानते हो, भगवान कहाँ रहता है? स्वयं उन्होंने ही बताया–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।। *(गीता, 18/61)*

अर्जुन! ईश्वर सम्पूर्ण भूत अर्थात् प्राणियों के हृदय देश में निवास करता है। वह इतना समीप है, हृदय के अन्दर है फिर भी लोग उसे क्यों नहीं देख पाते? भगवान कहते हैं– लोग मायारूपी यन्त्र में आरुढ़ होकर भ्रमवश भटकते ही रहते हैं, इसलिए नहीं देखते। ईश्वर हृदय में है तो हम शरण किसकी जायँ? अगले ही श्लोक में भगवान कहते हैं–

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। *(गीता, 18/62)*

अर्जुन! उस हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ। '**सर्वभावेन**'– सम्पूर्ण भाव से जाओ। ऐसा नहीं कि थोड़ा-सा भाव संकटमोचन में, थोड़ा मैहरदेवी में, थोड़ा भाव पशुपतिनाथ में; हम तो बारह आना लीक हो गये, हमारी श्रद्धा तो कई स्थलों में बिखर गयी। इस प्रकार पूजन करने से कल्याण नहीं होता क्योंकि वह सत्य, वह तत्त्व तो एक है। इसलिए तुम सम्पूर्ण मनोयोग से, सम्पूर्ण भाव से, मन-क्रम-वचन से हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ। मान लें हमने सारी मान्यताएँ तोड़ीं, शरण चले ही गये तो उससे लाभ ही क्या? भगवान कहते हैं– '**तत्प्रसादात्परां शान्तिम्**'– तुम परमशान्ति प्राप्त कर लोगे और '**स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्**'– उस निवास-स्थान को पा जाओगे जो शाश्वत है, अजर-अमर है। तुम्हारा घर रहेगा, तुम्हारा जीवन रहेगा, समृद्धि रहेगी। इस प्रकार गीता का भगवान हृदय में निवास करता है।

इसी तरह रामचरितमानस के आरम्भ में गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा–

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्याम् विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।।

(बालकाण्ड, मंगलाचरण, 2)

मैं भवानी और शंकर की वन्दना करता हूँ जो श्रद्धा और विश्वास के रूप हैं। हमें श्रद्धा लानी है, विश्वास स्थिर करना है। उनके बिना सिद्धजन भी हृदय में स्थित ईश्वर को नहीं पहचान पाते हैं। अब, हम उन भवानी-शंकर को कहाँ ढूढ़ें जिनमें हमें श्रद्धा लानी है? मंगलाचरण के अगले श्लोक में कहते हैं–

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते।।

(बालकाण्ड, मंगलाचरण, 3)

मैं '**गुरुं शंकररूपिणम्**'– सद्‌गुरु जो शंकरस्वरूप हैं, उनके चरणों की वन्दना करता हूँ जिनके आश्रित हो जाने पर टेढ़ा चन्द्रमा भी परम कल्याणकारी हो जाता है, वन्दनीय हो जाता है। '**मन ससि चित्त महान**'– मन ही चन्द्रमा है। यह बड़ा टेढ़ा है। यह कभी भोग में तो कभी रोग में, पता नहीं कहाँ-कहाँ

भटकता रहता है। यह टेढ़ा चन्द्रमा– विकारोन्मुख मन जिनका आश्रय लेने पर सिमटकर सीधा और परम कल्याणकारी फल देनेवाला हो जाता है, वह सद्गुरु ही शिव हैं। अनादिकाल से ही शिव सद्गुरु के प्रतीक हैं। इन शिवरूपी सद्गुरु की कृपा के बिना सिद्धजन भी हृदय में स्थित ईश्वर को नहीं जानते। तुलसीदासजी का भी ईश्वर हृदय में है। गीता के अतिरिक्त नयी बात उन्होंने भी कुछ नहीं कहा। जब किसी ने उस परमात्मा को पाया तो हृदय-देश में ही पाया। कबीर ने भी उस परमात्मा को पाया तो हृदय-देश में– **'सब घट मेरा साइयाँ'**। इस पद में भी कबीर वही कहते हैं कि परमात्मा की शोध में कोई पानी तो कोई पत्थर में; पता नहीं कहाँ-कहाँ भटकते रहते हैं। आश्चर्य तब होता है कि पानी लबालब भरा हो और कोई एक घूँट के लिए प्यासा मरता हो। यही दशा इस मानव की है; जैसे–

पानी बिच मीन पियासी, हो! मोहिं सुन सुन आवत हाँसी।

पानी के बीच में मछली और प्यासी मरे; भला इससे बड़ी हास्यास्पद, जगहँसाई की बात क्या हो सकती है? संतों की दृष्टि में जल दो प्रकार का होता है– एक तो भक्तिजल और दूसरा विषयवारि।

राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना।।

(मानस, 7/110/9)

बिषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।

(विनयपत्रिका, पद 102)

जो संतोष-सुधा निसि-बासर सपनेहुँ कबहुँक पावै।
तौ कत बिषय बिलोकि झूँठ जल मन-कुरंग ज्यों धावै।।

(विनयपत्रिका, पद 168)

यदि किसी को सन्तोषरूपी सुधा मिल जाय, **'आनन्द-सिन्धु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा। मृग-भ्रम-बारि सत्य जिय जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी।।'** *(विनयपत्रिका, पद 136/2)*– आनन्दरूपी सिन्धु के मध्य में तुम हो, चारों तरफ ब्रह्मपीयूष है, बीच में तुम हो। पानी के अन्दर हो और प्यासे मरते हो, रेगिस्तान में जल के भ्रम में मृग

की तरह अतृप्त विषयों में दौड़ रहे हो। रेगिस्तान में मैदानी क्षेत्रों की तुलना में गर्मी अधिक पड़ती है। वहाँ घने छायादार वृक्ष नहीं है, केवल तपती हुई रेत है। तापमान बढ़ने के साथ बालू में से ऊष्मा की भयङ्कर लहरें उठने लगती हैं। उन लहरों को देखकर जल का भ्रम होने लगता है। प्यासा मृग सोचता है कि दूर वहाँ पर पानी बह रहा है, चलें पी लें। दौड़कर वहाँ जाने पर दूसरी ओर उतनी ही दूर पर लहरें दिखायी देती हैं। मृग जल समझकर उधर भागता है, फिर तीसरी तरफ जल दिखायी पड़ा तो आँख मूँदकर उधर भागा। लगभग बारह बजे दोपहर से वह दौड़ना आरम्भ करता है और दो-ढाई बजते-बजते उसके पाँव ऊपर, गर्दन और शरीर जमीन पर आ जाते हैं। वह जल की आशा में ही दौड़ते-दौड़ते मर जाता है। इसी का नाम है मृगतृष्णा का जल! मृगमरीचिका!

गोस्वामीजी कहते हैं– **'तौ कत विषय बिलोकि झूँठ जल'**– यह विषय का जल झूठा है, नश्वर है, फिर भी **'मन कुरंग ज्यों धावै'**– यह मन मृग की तरह भ्रान्तिवश दौड़ रहा है। माताओं के आँख को मृगलोचनी, मृगनयनी की संज्ञा दी जाती है। मृग की आँखों का आयतन बड़ा अवश्य होता है लेकिन प्रतीत होता है कि उन्हें दिखाई कम देता है; क्योंकि चूहा भी जब जंगल में आग देखता है बिल में घुस जाता है, खरगोश भयङ्कर गर्मी में झाड़ी में दुबक जाता है, हर जानवर छिप जाता है, आदमी भी किसी छाया की शरण ले लेता है; किन्तु सबसे बड़ी आँखवाला मृग वहीं पहुँचता है जहाँ ऊष्मा की लहरें उठ रही हैं। सीताजी भी धोखा खा गयीं, मृगलोचनी जो थीं। अतः कवियों की यह उपमा माताओं के लिए उपयुक्त प्रतीत नहीं होती। अस्तु मृगतृष्णारूपी विषयवारि। ब्रह्मपीयूष हृदय में। परमात्मा के लिए 'मानस' में कहा गया– **'सबके उर अंतर बसहु, जानहु भाउ कुभाउ।'** (2/257)– परमात्मा सबके अंतराल में है फिर भी **'पानी बिच मीन पियासी'**– यह हृदयवाला ब्रह्मपीयूष हम कैसे जानें? कबीर कहते हैं–

आतम ज्ञान बिना नर भटके, कोइ मथुरा कोइ काशी।

'आतम ज्ञान'- यह नहीं कि आत्मा की बातें करें; जैसे– आत्मा शुद्ध

है, बुद्ध है, निर्लेप है। ज्ञान का चित्रण गीता में जितना स्पष्ट है, अन्यत्र कहीं नहीं है।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ *(गीता, 13/11)*

अर्जुन! आत्मा के आधिपत्य में निरन्तर चलना– यह है ज्ञान की निम्नतम सीमा, ज्ञान की जागृति! उस आत्मा के ही संरक्षण में चलते-चलते परम तत्त्व परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन और दर्शन के साथ मिलनेवाली अनुभूति ज्ञान है तथा इसके अतिरिक्त सृष्टि में जो कुछ है, अज्ञान है। जब आपकी श्रद्धा इतनी अटूट हो कि भगवान आपकी आत्मा से जागृत होकर मार्गदर्शन करने लगें, आपको सोते से जगायें, भजन में बैठायें, भजन करायें, खतरे से अवगत करायें– यह है वास्तविक ज्ञान में प्रवेश। जब भगवान रथी हो जाते हैं, चिन्तन में आपकी लौ लगी है, आप मजनू की तरह चिन्तन में डूबे हों और यहाँ सर्प पड़ा है तो भगवान कह देंगे– खड़े हो जाओ। वह सर्प निकल गया तो भगवान कह देंगे– आगे बढ़ जाओ। इस प्रकार जैसा गीता में है– **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** *(गीता, 9/22)*– वे योग की सुरक्षा का भार स्वयं वहन करने लगते हैं। जब तक आत्मा जागृत नहीं होती, यह ब्रह्मपीयूष समझ में ही नहीं आता।

पूज्य महाराजजी की शरण में जब कोई साधक पहुँचता तो महाराज उसे नाम कैसे जपें, रूप कैसे देखें, ब्रह्मविद्या क्या है?–सब बता दिया करते थे। इसके साथ ही साधक को कितना सोना, कब जागना, उठना-बैठना इत्यादि संयम भी समझा दिया करते थे। आरम्भिक एक साधक को भी महाराजजी ने यह सब कुछ बता दिया था। उन साधक को गुरु महाराज की सेवा में रहते दो-तीन महीने बीत गये। एक दिन गुरु महाराज ने उनसे पूछा– "क्यों रे! कुछ अजूबा दिखाई देत है?" उन्होंने बताया– "अभी तो ऐसा कुछ देखने को नहीं मिला।" गुरुदेव ने पूछा– "मोर रूपवा देखत है?" नीचे गर्दन कर उन साधक ने कहा– "हूँ!" गुरु महाराज बोले– "सार कहत हैं 'हूँ'। क्यों रे, मोर रूपवा देखत तो मोरेउ भीतर खटकत। हमें तो तोरे अन्दर अन्धकार दिखाई दे

रहा है।'' वास्तविकता यह थी कि वह साधक गुरु महाराज की सेवा में आने से पूर्व पाँच वर्ष तक वैष्णव सन्त रह चुके थे। तीर-धनुषवाले रामजी के चित्र से उनका बड़ा प्रेम था। इसलिए जैसे-जैसे महाराजजी ने अपना स्वरूप देखने को कहा था, वह हृदय में रामजी का वह चित्र देखने का प्रयास करते। गुरु महाराज को लगा कि ऐसे इसका जाल नहीं टूटेगा।

एक दिन गुरु महाराज ने अनुभव में उन्हें पढ़ाना आरम्भ किया। वह साधक भजन में बैठे थे। सामने रामजी का चित्र था। उसी समय गुरु महाराज आ गये। महाराज ने कहा– "देख क्या है रामजी के पास? यह मुकुट ही न!'' मुकुट जैसे सजीव होकर चित्र से निकलकर महाराजजी के शिर पर लग गया। महाराज ने कहा– "और क्या है? यह धनुष!'' वह धनुष भी महाराज के हाथ में आ गया। महाराज ने कहा– "तरकश और पीताम्बर!'' वह भी महाराजजी से लिपट गया। महाराज बोले– "अब मनिहै? देख, यदि तुम्हें सचमुच भगवान की जरूरत है तो हमारा स्वरूप देख। तुम भगवान को पा जाओगे। और यदि सीधा भगवान को ढूँढ़ोगे तो यह चित्र तो कलाकारों के बनाये हुए हैं, ढूँढ़ते ही रह जाओगे।'' उस दिन से उनका भ्रम टूट गया। वह गुरु महाराज का स्वरूप देखने लगे और पन्द्रह दिनों के अन्दर ही उनका भजन जागृत हो गया।

बात भी ठीक थी। प्राचीन युग-जमाने के कलाकार न जाने कैसी-कैसी मूर्तियाँ, कैसे-कैसे चित्र बनाते थे। अजन्ता-एलोरा के चित्र, मथुरा शैली, कांगड़ा शैली, राजस्थान शैली में चित्रकारों के अपने-अपने मानक हैं। राधा या सीता के सौ-पचास साल पुराने चित्रों से आज उन्हीं के चित्रों से तुलना कीजिये, आप बहुत बड़ा अन्तर पायेंगे। वाराणसी के विख्यात पेन्टर भोलानाथ आश्रम के भक्तों में से थे। उनकी तीन पुत्रियाँ थीं। उनकी ठोढ़ी पतली, ऊपर से उभड़ा हुआ था। वह जब-जब किसी देवी का चित्र बनाते, अपनी बेटियों का ही चित्र बना डालते थे। किसी के नीचे वह लिख देते राधिकाजी; किन्तु वह रहती थी उनकी अपनी ही पुत्री। कलाकारों के दिमाग में जो बैठ गया, सो बैठ गया।

वस्तुतः परमात्मा यदि परमधाम है तो सद्गुरु उसका प्रवेशद्वार, साधना की जागृति, पूर्तिपर्यन्त मार्गदर्शक, सब कुछ है। इस आत्मा की जागृति किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के बिना हो ही नहीं सकती। गुरु महाराज की शरण में आने से पूर्व हमारा भी श्रीकृष्ण के विराट् स्वरूप से लगाव था, केवल इसलिए कि हमारी पूजा में कोई देवता छूट न जाय। इसीलिए आरम्भ में गुरु महाराज के स्वरूप का ध्यान न कर हम विराट् स्वरूप देखने का प्रयास करते थे। दो-ढाई महीने के पश्चात् गुरु महाराज ने कहा– "क्यों रे! कुछ दिखाई दिया?" हमारी समझ में ही नहीं आता था कि यह क्या पूछ रहे हैं? जो साधना बतायी गयी है, वह तो हमें याद है किन्तु 'दिखाई दिया' क्या होता है? अग्रज सतीर्थों के अनुभवों से हमने साधन-विधि का परिमार्जन किया, महाराजजी को देखने लगे। साढ़े तीन महीना बीतते-बीतते एड़ी से चोटी तक मेरा सारा शरीर फड़कने लगा, तड़-तड़-तड़-तड़! जैसे किसी ने मेरे शरीर में कोई मशीन फिट कर दिया हो। आधा-आधा इञ्च पर फड़कन होने लगा। हमने गुरु महाराज को बताया कि हमारे शरीर में कभी दाहिनी ओर तो कभी बायीं ओर अचानक फड़क जाता है और हारमोनियम की रीड से भी तेज चलता है, उसी के अनुरूप कुछ चित्र भी आ रहे हैं। कहीं कोई बीमारी तो नहीं हो गयी?

गुरु महाराजजी बोले– "हूँ!" वह खूब हँसे, बोले– "बस बेटा! राम-रावण युद्ध शुरू हो गया। अब रावण मारा जायेगा, रामजी का अभिषेक होगा, तभी तुम्हें इससे छुटकारा मिलेगा, बीच में कहीं विराम नहीं है। आज से भजन जागृत हो गया। अब भगवान ने तुम्हें पढ़ाना शुरू कर दिया है। जिस श्रेणी के तुम हो, उसी श्रेणी की पढ़ाई तुम्हें पढ़ा रहे हैं। ज्यों-ज्यों स्तर उठता जायेगा, आगे की पढ़ाई मिलती जायेगी, उसी के अनुरूप तुम्हारी दृष्टि भी खुलती जायेगी, एक दिन परमात्मा को देख लोगे।" यही है भजन की जागृति का रहस्य कि जिस परमात्मा की हमें चाह है और जिस सतह पर हम बैठे हैं, हमारी पुकार ऐसी हो कि वह प्रभु हमारे स्तर पर उतर आयें, आत्मा से अभिन्न होकर खड़े हो जायँ और हमारा मार्गदर्शन करने लगें। उनके निर्देशन को समझना और उसका अक्षरशः पालन करना, उसके अनुसार आचरण करना भजन कहलाता है। यह निर्देशन, यह जागृति न लिखने में आता है, न

वाणी से कहने में आता है। यह केवल किसी अनुभवी सद्‌गुरु के द्वारा जागृत हो जाया करता है। इस जागृति के बिना भीतर भी कोई भगवान हैं– यह बात नहीं समझ में आती। इसलिए–

आतम ज्ञान बिना नर भटके कोइ मथुरा कोइ काशी।

प्यास तो हम सबको है। हम उनकी अनुकम्पा चाहते हैं, उनका दर्शन चाहते हैं, मोक्ष भी चाहते हैं। प्यास तो है लेकिन लोग भटक रहे हैं। कोई उसे मथुरा में ढूँढ़ रहा है तो कोई अन्य तीर्थों में। जहाँ नहीं है लोग वहाँ ढूँढ़ रहे हैं।

जैसे मृगा नाभि कस्तूरी बन बन फिरत उदासी।
मोहिं सुन सुन आवत हाँसी॥

मृग की नाभि में कस्तूरी हुआ करती है। जब मृग युवा होता है, कस्तूरी फूट जाती है, रिसने लगती है। उससे इतनी सुगंध फैलती है कि मृग उन्मत्त होकर खोजने लगता है कि इतनी मधुर गमक है कहाँ? कभी वह सोचता है कि गन्ध उस वृक्ष से आ रही है तो उधर भागकर जाता है। वायु के झोकों से उसे कभी दूसरी ओर से गन्ध आती प्रतीत होती है तो वह उधर ही दौड़ता है। जहाँ भी वह जाता है, उसे निराशा, उदासी ही हाथ लगती है। यदि कभी धोखे से ही घूमकर सूँघ लिया, उस गंध को अपने अन्दर ही पा जाता है, मस्त होकर बैठ जाता है। इसी प्रकार भगवान सबके हृदय में हैं। जैसे मृग वन-वन निराश भटकता है, उसी प्रकार कोई उसे मथुरा में तो कोई काशी में ढूँढ़ रहा है। इस अनर्थ का कारण क्या है? आत्मज्ञान की जागृति का अभाव! एक रूपक के माध्यम से सन्त कबीर इस जागृति को समझाने का प्रयास करते हैं–

जल बिच कमल, कमल बिच कलियाँ, तापर भँवर निवासी।

महापुरुषों ने संसार को समुद्र कहा है। गोस्वामीजी के अनुसार–

भव सिंधु अगाध परे नर ते। पद पंकज प्रेम न जे करते॥

(मानस, 7/13/10)

अथाह भवसागर! आपके चरणों में जो प्रेम नहीं करते, वे अथाह भवसागर में पड़े रहते हैं किन्तु जिन्हें चरणों में प्रेम हुआ, भगवत्कथा जागृत

हो गयी तो यही अथाह भवसागर भवसरिता बन जाता है– **'करउँ कथा भवसरिता तरनी।'** *(मानस, 1/30/4)*। साधना और सूक्ष्म होने पर, **'यह चरित जे गावहिं हरि पद पावहिं ते न परहिं भवकूपा।।'** *(मानस, 1/196/16)*– वही भवसिन्धु हो गया भवसरिता, वही सिमटकर हो गया भवकूप और साधन पराकाष्ठा पर पहुँचा तो, **'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं।'** *(मानस, 1/24/4)* समुद्र का आयतन घटते-घटते अंततः समुद्र ही सुख गया जैसे यहाँ कोई गड्ढा था ही नहीं। यही सन्त कबीर की इन पंक्तियों में है–

'जल बिच कमल'- संसार एक समुद्र है जिसमें विषयरूपी वारि भरा है। जल के अन्दर कमल रहता है। पानी की बौछारें कमल के पत्तों के ऊपर से निकल जाती हैं किन्तु न कमलपत्र को भिंगो पाती हैं न पंखुड़ियों को। जल से निर्लेप! इसी प्रकार संसाररूपी समुद्र में जब कमलवत् रहने की क्षमता आ जाती है, उस समय **'कमल बिच कलियाँ'**– कमल के अन्तराल में पराग होता है, **'ता पर भँवर निवासी'**– ईश्वरीय पराग खिलते ही मनरूपी भँवर उस पर निवास करने लगता है।

'सो मन बस त्रैलोक भयो सब'

ऐसे मन के वश में तीनों लोक हो जाता है। सात्त्विक, राजस और तामस– त्रिगुणमयी प्रकृति! ये सब उसके नियन्त्रण में हो जाती हैं। वह **'यती सती सन्यासी'**– वह यती है, उसका यत्न पूर्ण है; वह सती है, उसकी वृत्ति सत्य से जुड़ी है और सन्यासी– वह सर्वस्व का न्यास करके स्थित है। अगली पंक्ति में वे कहते हैं–

'जाका ध्यान धरें विधि हरि हर'

जिस परमात्मा की आपको चाह है, ब्रह्मा-विष्णु-महेश जिसका ध्यान धरते हैं और **'मुनि जन सहस अठासी'**– एक समय नैमिषारण्य में अठासी हजार ऋषि, अच्छी रहनी के महात्मा निवास करते थे; वे ऋषिगण जिसका ध्यान धरते थे, **'सो तेरे घट माहिं विराजे'**– वह परमात्मा तुम्हारे हृदय में निवास करता है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– **'हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** *(गीता, 18/61)*; यही गोस्वामीजी कहते हैं–

व्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनन्द रासी॥

(मानस, 1/22/6)

वह ब्रह्म परम सत्य, असीम आनन्द की राशि है। भला वह भगवान रहते कहाँ हैं?

अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥

(मानस, 1/22/7)

ऐसा परमात्मा सबके हृदय में निवास करता है। 'अविकारी'- कुछ भी करो, कुछ भी पीओ, कुछ भी पहनो, वह द्रष्टा के रूप में है, उन विकारों से लिपायमान नहीं होता। जैसे प्रकाश में चाहे गीता पढ़ लो, चाहे कालीन बुनो, चाहे कसाईखाना खोल लो; प्रकाश का काम तो केवल प्रकाश देना है। इसी प्रकार वह परमात्मा द्रष्टा के रूप में है। अब वह हृदयवाला परमात्मा मिलेगा कैसे? तो,

नाम निरूपन नाम जतन तें। सोइ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥

(मानस, 1/22/8)

नाम का निरूपण करो कि नाम है क्या? उसे जपा कैसे जाय? क्योंकि-

राम नाम में अंतर है। कहीं हीरा है, कहीं पत्थर है।

हमने-आपने चौबीस घण्टा परिश्रम किया, फिर भी कंकड़ ही हाथ लगा। उसका करोगे भी क्या! कहीं कीचड़ में ठोंक-ठाँक दोगे। किसी ने उतना ही श्रम किया और हीरे हाथ लग गये। तब फिर पूछना ही क्या है! जरूरत की हर वस्तु आ जायेगी। इसलिए पहले नाम का निरुआर करो, निराकरण करो कि नाम जपा कैसे जाता है और जब समझ काम कर जाय, तब यत्न करो, वह प्रकट हो जायेगा। इस प्रकार गोस्वामीजी का ईश्वर हृदय में रहता है। यही कबीर ने कहा-

सो तेरे घट माहिं विराजे, परम पुरुष अविनाशी।

वह तुम्हारे हृदय के अन्दर निवास करता है। वह परम पुरुष है, अविनाशी है। **'है हाजिर तोहे दूर बतावें'**- वह है तो बिलकुल हृदय के अन्दर लेकिन

जब कहीं जाकर पूछो तो कहेंगे कि भगवान बद्रीनाथ में हैं; फिर किसी से पूछिये तो वह कहेगा– नहीं, मक्का चले जाओ। एक तो हाजी कहलाओगे, फिर सब ठीक हो जायेगा। कोई कहता है– वह तो येरूसेलम में है। किसी का परमात्मा ननकाना साहब में तो किसी का लुम्बिनी में! कहीं कुछ नहीं है। कबीर कहते हैं– वह **'है हाजिर'**– पास में है, **'तोहें दूर दिखावें'**– तुम्हें वहाँ इशारा कर रहे हैं किन्तु दूर जहाँ भी जाओगे, निराशा ही हाथ लगेगी। कुछ और पा सकते हो किन्तु उसे तो नहीं पाओगे। हाँ, पुण्य जरूर बढ़ेगा क्योंकि शोध के दौरान चिन्तन तो उसी का कर रहे हो।

कहे कबीर सुनो भाई साधो, गुरु बिन भरम न जासी।
मोहिं सुन सुन आवत हाँसी।

कबीर कहते हैं– सन्तो! ध्यान दो। सद्गुरु के बिना यह भ्रम कभी दूर नहीं होगा।

राखइ गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहिं कोउ जग त्राता।।

(मानस, 1/165/6)

तकदीर रूठ जाय, विधाता मुकद्दर में दुर्भाग्य लिख दें, गुरु बचा लेंगे। उस पथ पर चला देंगे जिससे भाग्यरेखा बनती है और यदि गुरु उपलब्ध नहीं हैं तो भगवान नाम की कोई वस्तु नहीं है जबकि भगवान ही एक सत्ता है जो अविनाशी हैं, सर्वत्र व्याप्त हैं। होंगे, लेकिन हमारे दर्शन, स्पर्श और प्रवेश के लिए नहीं हैं; क्योंकि वह जागृति किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के द्वारा ही होती है।

कागभुसुण्डि भक्ति की खोज में सैकड़ों ऋषियों के यहाँ गये। मस्तक टेककर सादर सबको प्रणाम किया। उनका उपदेश सुना, उन्हें प्रणाम कर आगे बढ़ गये, कहीं कोई प्रश्न नहीं किया किन्तु महर्षि लोमश के आश्रम में वे पहुँचे तो उन्हें आशा बँधी कि यह सही रास्ता दिखा सकते हैं। उन्होंने अपना प्रश्न रखा– भगवन्! सगुण ब्रह्म की उपासना हमें बताये किन्तु,

ब्रह्म ज्ञान रत मुनि बिज्ञानी। मोहिं परम अधिकारी जानी।।
लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा।।

(मानस, 7/110/2-3)

वह ब्रह्म का उपदेश करने लगे। वह अज हैं, अजन्मा हैं, अद्वैत हैं, तुमसे भिन्न नहीं हैं। वह गुणातीत हैं, सबके हृदय में निवास करनेवाले हैं–

मन गोतीत अमल अबिनासी। निर्बिकार निरवधि सुखरासी।।

(मानस, 7/110/5)

वह मन और इन्द्रियों से अतीत हैं, मल से अतीत हैं, अविनासी हैं।

सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा। वारि वीचि इव गावहिं वेदा।।

(मानस, 7/110/6)

वह तुम हो, तुझमें और उनमें कोई अन्तर ही नहीं है, जैसे– जल और उसकी लहरियाँ कहने को दो हैं लेकिन दोनों जल ही हैं। कागभुशुण्डि ने अनुरोध किया–

राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना।।
सोइ उपदेश कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखउँ रघुराया।।
भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निरगुन उपदेसा।।

(मानस, 7/110/9-11)

पहले मैं नेत्र भरकर देख लूँगा तब मैं ब्रह्म हूँ या परमात्मा हूँ– सब स्वीकार कर लूँगा।

मुनि पुनि कहि हरि कथा अनूपा। खंडि सगुन मत अगुन निरूपा।।

(मानस, 7/110/12)

लोमशजी ने सगुण मत का खण्डन किया और निर्गुण का विस्तार से वर्णन किया–

तब मैं निर्गुन मत कर दूरी। सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी।।

(मानस, 7/110/13)

मैंने निर्गुण मत का प्रतिवाद करते हुए सगुण पक्ष का निरूपण किया–

उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा। मुनि तन भये क्रोध के चीन्हा।।

(मानस, 7/110/14)

उत्तर-प्रति उत्तर से लोमश महाराज नाराज हो गये, कहने लगे– क्या कौवे की तरह काँव-काँव लगा रखा है–

सठ स्वपच्छ तव हृदयँ बिसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला।।

(मानस, 7/111/15)

तुम्हे अपने पक्ष का बड़ा हठ है, जाओ पक्षियों में चाण्डाल कौआ हो जाओ। लोमशजी ने श्राप दे डाला और कागभुशुण्डिजी कौआ हो भी गये।

तुरत भयउँ मैं काग तब पुनि मुनि पद सिरु नाइ।
सुमिरि राम रघुबंस मनि, हरषित चलेउँ उड़ाइ।।

(मानस, 7/112 क)

मैंने उन मुनि के चरणों में सादर प्रणाम किया और हरष के साथ उड़ चला। हमने सोचा– वाह भगवान! आपने अच्छी कृपा की। पृथ्वी पर चलने में कितनी कठिनाइयाँ! कहीं काँटे तो कहीं खूँटी न गड़ जाय। नदी, नाल, छोटे-छोटे जीव कहीं पैरों के नीचे न आयें। कहीं कुत्तों के काटने का भय! यह उड़ने की शक्ति देकर आपने कृपा ही तो की है। अब आकाश मार्ग से ही पहुँचेंगे काशी, फिर प्रयाग, फिर आश्रम! उन्मुक्त विचरण का अच्छा अवसर मिला। भगवान शंकर का आशीर्वाद तो है ही– **'कवनेउँ जनम मिटिहि नहिं ग्याना।'** *(मानस, 7/108/8)*– कौवा बना दें या उल्लू, रहेंगे तो वहीं। उधर लोमशजी का मन परिवर्तित होने लगा–

सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन। उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन।।
कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेम परिच्छा मोरी।।
मन बच क्रम मोहि निज जन जाना। मुनि मति पुनि फेरी भगवाना।।

(मानस, 7/112/1-3)

कृपासिंधु प्रभु ने लोमशजी की बुद्धि को भुलावे में डालकर मेरे प्रेम की परीक्षा ली कि यह ब्रह्म से संतोष करता है या मुझे ढूँढ़ता है। जब भगवान ने मुझे मन-क्रम-वचन से अपना सेवक समझ लिया तो मुनि की बुद्धि को पलट दिया। वह पछताने लगे–

अति बिसमय पुनि पुनि पछिताई। सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई।।

(मानस, 7/112/5)

उन्होंने बड़े आदर के साथ मुझे बुला लिया और–

मम परितोष बिबिधि बिधि कीन्हा। हरषित राममंत्र तब दीन्हा।।

(मानस, 7/112/5)

उन्होंने मुझे सान्त्वना दी, प्रसन्न होकर मुझे राममंत्र दिया। इसके पश्चात् '**बालक रूप राम कर ध्याना**'- ध्यान की विधि बताया, '**रामचरित मानस तब भाषा।**' *(मानस, 7/112/9)*- ब्रह्मविद्या की कथा सुनाया, भजन की क्रमबद्ध विधि बतायी और बहुत सारा आशीर्वाद भी दिया। इस कथानक से स्पष्ट हो गया कि निर्गुण नाम की संसार में कोई उपासना नहीं है। वह तो मुनि की बुद्धि का एक छलावा था।

वस्तुतः भगवान एक हैं और उन्हें पाने की विधि भी एक है। जो चित्त संसार में इधर-उधर भटक रहा है उसे समेटकर भगवान की ओर मोड़ दो। शरीर से आप कहीं भी रहें; खाना खाते, पानी पीते, शौच जाते, उठते-बैठते हर परिस्थिति में नाम याद आया करे। भगवान जानते हैं कि यह मुझे पुकार रहा है। वह यह भी जानते हैं कि इसको क्या चाहिये! भविष्य में आप जो चाहेंगे, मिलेगा और मोक्ष तो मिलना ही मिलना है। ईश्वर-पथ में यदि श्रद्धा से डोरी लग गयी, भगवान आत्मा से जागृत अर्थात् रथी हो गये, आत्मा से ज्ञान प्रसारित होने लगा फिर तो माया में कोई शक्ति नहीं कि उसको नष्ट कर दे और उन्हीं के निर्देशन में चलते-चलते दो-चार जन्मों के अन्तराल से आप वहीं पहुँच जायेंगे जिसका नाम परम गति है, परम धाम है। इसलिए '**राम भगति जल मम मन मीना**' सबका मन भक्तिरूपी जल में मछली की तरह है किन्तु भक्ति शुरू करें तो कहाँ से करें? भगवान मिलेंगे तो कहाँ मिलेंगे?- इन प्रश्नों को लेकर समाज में बड़ी भ्रान्तियाँ हैं। काशी में आप पायेंगे कि शाम होते-होते सभी मन्दिरों में घण्टे घनघना उठते हैं। एक ही परिवार में माँ दुर्गाजी की पूजा करने जा रही हैं, पापा विश्वनाथजी की पूजा में जा रहे हैं, बेटा संकटमोचन जा रहा है......परिवार में दस सदस्य हैं तो दस भगवानों की पूजा हो रही है। कहीं भगवान भी दस हुए हैं!

यह माना कि जितने भी मन्दिर हैं, कोई निरर्थक नहीं है। हनुमानजी सही हैं, दुर्गाजी सही हैं। यह सभी हमलोगों के पूर्वज हैं, भगवत्स्वरूप को

प्राप्त महापुरुष हैं। यह आकृतियाँ उन्हीं की हैं। उनसे आशीर्वाद लो, मस्तक टेको, प्रणाम करो लेकिन भजन वैसे ही करो जैसा भगवान ने अपने श्रीमुख से आदेश दिया है। वह आदेश है गीता। गीता आप सबका धर्मशास्त्र है। इसकी यथावत् व्याख्या 'यथार्थ गीता' का अनुशीलन करें।

सन्त कबीर ने इस पद में कहा कि **'गुरु बिन भरम न जासी'**। इसका आशय यह नहीं है कि दौड़कर जिस किसी को गुरु बना लें; क्योंकि–

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता।।

(मानस, 7/44/6)

जब तक पुण्य का समूह वर्तमान में साथ नहीं देता, सन्त अथवा सद्‌गुरु नहीं मिलते। नहीं मिलने का अर्थ यह नहीं है कि वे दिखाई ही नहीं देते। संत, सद्‌गुरु या स्वयं भगवान ही सामने खड़े हों, लोग चार खरी-खोटी अवश्य सुनायेंगे कि देखिये, यह कैसा रूप बनाकर खड़े हैं; क्योंकि हमारे पास संत-सद्‌गुरु को पहचाननेवाली आँख ही नहीं है। जिन आँखों से संत या सद्‌गुरु पहचाने जाते हैं, वह दृष्टि पुण्यमयी है। पुण्य जहाँ जागृत हुआ तो सन्त या सद्‌गुरु जिस सिंहासन पर बैठे होंगे या जिस दलदल में लोटते होंगे, आप ही वहीं पहुँच जायेंगे अथवा वहीं आपके पास आ जायेंगे। आपको विश्वास भी हो जायेगा, आपका मार्गदर्शन भी होने लगेगा।

अयोध्या के पास सरयू नदी के बायें किनारे के समीप मधवापुर में आश्रम की एक शाखा है। साधनकाल में गुरु महाराज ने वहाँ निवास किया था। आश्रम के समीपवर्ती गाँव की घटना है। आज से पन्द्रह-बीस वर्ष पहले की बात है। पहले गाँवभर की गायें यादव लोग चराया करते थे। उन दिनों जंगल में एक शेर आ गया था। गाँववालों ने चरवाहे को सचेत किया– देखो! जंगल में शेर आ गया है। उसने उस गाँव की दो भैंस मार दी है। वहाँ उसने एक पड़वा तोड़ दिया। उस जगह दो बैल मारे गये। तुम सावधान रहकर गायों को चराना, कहीं वह इन पर न टूट पड़े।

चरवाहे ने एक दिन लाठी बदल दिया। उसने लोहा लगा डंडा लिया, पगड़ी बाँधा और चल पड़ा। उसे यह भी नहीं मालूम था कि शेर होता कैसा

है? फिर भी वह प्रत्येक परिस्थिति के लिए तैयार था। दोपहर का समय था। गायें नदी में पानी पीकर वृक्षों के नीचे विश्राम कर रहीं थी। अयोध्या का परिवेश! संयोग से एक वैष्णव महात्मा भटकते हुए उधर आ निकले। उन्होंने ठाकुरजी को सामने रख दिया, तुलसी-दल चढ़ाया और शङ्ख उठाकर अचानक बजा दिया। गायें बिदककर इधर-उधर भागने लगीं।

चरवाहे ने समझ लिया कि जानवर तो गया। यह भैंस तोड़ देता है। यदि यह हमारी ओर घूम गया तो हम क्या कर लेंगे! दबे पाँव वह उन महात्मा के पीछे गया, उन्हें लोहबंदा मारा। एक ही वार में उनके प्राण-पखेरू उड़ गये, फिर भी उसने दो-तीन प्रहार और किया, कहीं पलट न पड़े। गायों को समेटकर वह दोपहरी में ही घर पहुँच गया। लोगों ने पूछा– गायें तो शाम को छः बजे आती थीं, तू आज तीन बजे ही इन्हें लेकर क्यों आ गया?

उसने कहा– ''आज हमने उस जानवर को, जो जंगल में लगता था, हमने साफ कर दिया।'' लोगों ने उससे पूछा– ''कैसा था वह जानवर?'' उसने बताया– ''गले बरारी तीन ताग'– वह गले में तीन लर की रस्सी लपेटे हुए था। 'पनिचिखवा मारेउँ गऊ घाट'– वह रह-रहकर पानी को चख लेता था (आचमन कर लेता था), गायघाट पर हमने उसे मार डाला।'' लोगों ने पूछा– ''गायों को उसने क्या नुकसान पहुँचाया?'' उसने कहा– ''जाके फूँके ते झूर हाड़ नरियाइ। सो भला गइया कस न धरि खाय।'– जिसके फूँक मारने से जब सूखी हड्डी गुहार लगाने लगती है, गाय में तो हाड़-माँस है, खून है; वह गायों को भला क्यों न खा लेता?'' लोगों ने सोचा– लगता है, इसने किसी ब्राह्मण या साधु को मार डाला। जाकर देखा, एक सन्त मरे पड़े थे। सबने मिलकर विधिवत् उनकी अत्येष्टि किया, उनकी समाधि बनवायी और दस गाँव के यादव परिवार मिलकर साल में एक बार वहाँ पूड़ी और खीर बनाकर चढ़ाते हैं।

उस चरवाहे के पुरोहित को इस घटना की जानकारी हुई। उन्होंने सोचा– यह है तो मजे में लेकिन कभी कुछ दिया-लिया नहीं। वह उसके यहाँ गये और कहा– ''यजमान! तुमने बहुत बड़ा पाप किया है। तुम्हें लगी है

ब्रह्महत्या! तुम तो रौरव नरक में जाओगे।'' उसने कहा– ''गुरुजी! हमने तो अपनी समझ से उपकार ही किया है, गायों की रक्षा के लिए प्राण पर खेल गये। धोखा हो गया। अब हम क्या करें? कोई उपाय है?''

पण्डित ने कहा– ''उपाय क्यों नहीं है! तुम प्रयागराज जाओ, त्रिवेणी में स्नान करके आओ और हमसे कथा सुन लो। भैंस, दो गाय और दो बैल दान कर देना। यह पहले ही मेरे घर पहुँचा देना। कथा सुनने के बाद एक सीधा दे देना। बस, तुम्हारा सब माफ हो जायेगा।'' वह प्रयाग स्नान कर, पशुओं का दान देकर बोला– ''अब?'' पण्डित ने कहा– ''अपनी मालकिन से कह देना कि आँगन में थोड़ा लीप दे जहाँ कथा होगी। यह सामान बाजार से ले आ।'' सारी व्यवस्था हो गयी।

पण्डितजी कथा कहने बैठे। उन्हें याद आया कि इसने एक साधु को मार डाला है, इसका कौन ठिकाना! कहीं हमीं से न लिपट पड़े। ऐसा करते हैं कि इसे वाक्य-दो वाक्य समझा देते हैं। उन्होंने उससे कहा– ''देख, जो मैं कहूँ, वही करिहे।'' उसकी समझ में आया कि 'जो मैं कहूँ, वही कहिहे।' उसने स्वीकृति में गर्दन हिलाया– ''हाउ।'' पण्डितजी ने कहा– ''ले पैंती पहन।'' वह भी बोला– ''ले पैंती पहन।'' पण्डितजी बोले– ''ठीक से बैठ जा। उसने भी कहा– ''ठीक से बैठ जा।'' पण्डितजी ने कहा– ''देख, शान्ति से कथा सुनी जाती है।'' उसने भी यही दुहरा दिया। अब पण्डितजी बोले– ''चुप रहो।'' उसने भी कह दिया– ''चुप रहो।''

पण्डितजी को क्रोध आ गया। उन्होंने उस चरवाहे को एक थप्पड़ मार दिया। उसने भी पण्डितजी को एक थप्पड़ मार दिया। पण्डितजी लड़ पड़े। वह भी लड़ पड़ा। पण्डितजी का पाँव लीपे हुए चौके से बाहर चला गया। उसकी पत्नी देख रही थी कि कथा शुरू हो गयी है। अब कथा पूरे शबाब पर आ रही है। उसने लीपी भूमि से बाहर पाँव देखा तो उठकर गयी, पण्डितजी की टँगड़ी पकड़कर चौक पूरी भूमि में कर दिया और बोली– ''पण्डितजी! होश में कथा कहो। जब सारी कथा लीपी गयी जमीन से बाहर हो जायेगी तो हमारे लीपने से क्या फायदा! पहले आपने बताया होता तो हम दस हाथ

और लीप देती। हमें क्या पता कथा में कितनी जगह लीपी जाती है।'' दो एक-बार चरवाहे ने पण्डितजी को और ढकेला। किसी तरीके से पण्डितजी छूटे तो पोथी-पत्रा छोड़कर घर भागे। घर में पहुँचकर उन्होंने अपनी पत्नी से कहा– ''हम तो सोचे कथा में कुछ देगा लेकिन वह तो मेरी जान के ही पीछे पड़ गया।''

इधर चरवाहा भी छूटकर हाथ से चलनेवाला पंखा लेकर अपने शरीर पर हवा करते बोला– ''कथा में तो बड़ा बल पड़ता है। हम तो समझते थे कि कथा कोई सरल-सा कार्य है! क्यों? पण्डितजी दिन में दो-चार कथा कह लेते हैं; कैसे जी रहे हैं? पण्डित को बड़ा बल पड़ा होगा। अब जा, उन्हें कायदे से सीधा दे आ।'' मालकिन आटा-दाल के साथ सवा किलो शुद्ध घी एक परात में लेकर पण्डितजी के घर गयी और कहा– ''लो पण्डित सीधा।'' पण्डित जले-भुने बैठे ही थे। उन्होंने उठाया डण्डा और उसकी खूब पिटाई किया। किसी तरह वह भी छूटी तो गिरते-पड़ते घर पहुँची। चरवाहे ने कहा– ''दे आई सीधा?'' उसने कहा– ''हाँ दे आयी। तुम कहत रह्यौ कि कथा सुनने में बड़ा बल पड़ता है किन्तु सीधा देने में उससे चौगुना बल हमें पड़ा है।'' तब भी दोनों ही नहीं समझ पाये कि मारपीट हुई या कथा हुई है?

जाका गुरु है आँधरा, चेला निपट निरंध।
अन्धम अन्धहिं ठेलिया, दूनउ कप परन्त॥

इसीलिए गुरु करै जानि के, पानी पीए छानि के, रास्ता चले देखि के और जीवन में कोई ऐसा काम न कर दे, बिना विचारे न कर डालें कि आजीवन सोचनीय हो जाय, कभी चित्त से न उतरे। वस्तुतः गुरु एक स्थिति है। **'नास्ति तत्त्वः गुरोर्परम्'** गुरु परम तत्त्व परमात्मा है। जिसने उस तत्त्व को विदित कर लिया, वही तत्त्वदर्शी है, वही सद्गुरु है। ऐसे ही सद्गुरु के लिए कबीर कहते हैं– **'गुरु बिन भरम न जासी।'**।

॥ ॐ श्रीगुरुदेव भगवान की जय ॥

ससुरा से गवना उलटि चला रे नैहरवा

महान संत कबीर की अटपटी वाणियों का जनमानस पर गहरा प्रभाव देख कई कवियों ने भी इसी प्रकार के भजन लिख डाले। कोई इन्हें निरगुन शैली कहता है, कोई अन्योक्ति तो कोई कूट पद। कवियों का स्वभाव है कुछ न कुछ जोड़ते-गाँठते रहते हैं। ऐसा ही एक भजन आज सामने आया है जो कुछ साधनापरक प्रतीत होता है। इसके रचयिता पुरुषोत्तमजी सद्‌गृहस्थ आश्रम में रहनेवाले कवि रहे हैं। सतना मध्यप्रदेश के क्षेत्र में इनके पद अधिक प्रचलित हैं। पद इस प्रकार है–

ससुरा से गवना उलटि चला रे नैहरवा।
बिना मात की लड़की जाई तरकी पहिने हियरवा।
मांग सँवारे बेसर पहने कंघा लीन्हे करवा।।
ससुरा से गवना.......
निज लड़के को खसम बनायो, छः थूनी का मड़वा।
सखी सहेलरि मंगल गावैं, पड़ि गये चकर भँवरवा।।
ससुरा से गवना.......
सोलह पाच पचीस साजि के, चल भये चारि कहँरवा।
डोली डोली फिरे भँवर में, तीन धार का नरवा।।
ससुरा से गवना.......
सात चार के बीच घुमा के, ले गये ससुर दुअरवा।
कह पुरुषोत्तम पिया पाइ के, सोवन लागी कोरवाँ।।
ससुरा से गवना.......

गवना सदैव नैहर से ससुराल ले जाया जाता है लेकिन इस पद में **'ससुरा से गवना उलटि चला रे नैहरवा'**। है तो अटपटा। जनजातियों में कहीं ऐसी प्रथा हो तो आश्चर्य नहीं; किन्तु इस पद में शादी-विवाह के रूपक

द्वारा जीवात्मा का परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया गया है। यहाँ ससुराल से नैहर की ओर, लोकरीति के विपरीत गवना जा रहा है।

'ससुरा से गवना'! स माने वह परमात्मा। सुरा कहते हैं सुरत को। जब भजन का अभ्यास इतना उन्नत हो कि सुरत का सम्बन्ध परमात्मा से जुड़ जाय, तत्क्षण वह प्रभु हृदय से जागृत हो जायेंगे, आत्मा से रथी हो जायेंगे। उन्हीं के निर्देशन में जीव पलटकर अपने नैहर, उद्गम की ओर चल पड़ता है। हमारा उद्गम है परमात्मा।

त्वमेव माताश्च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

भगवन्! आप ही हमारी माता हैं, आप ही पिता हैं, आप ही हमारे सखा हैं, सब कुछ हैं। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! यह मेरी त्रिगुणमयी प्रकृति गर्भ धारण करनेवाली माता और मैं परम चेतन ही बीजरूप से पिता हूँ। संसार के माता-पिता तो निमित्तमात्र हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। *(गीता, 15/2)*

अर्जुन! यह जीवात्मा मेरा विशुद्ध अंश है। वैदिक ऋषियों ने भी भगवान की विभूतियों का दर्शन किया तो निर्णय दिया– **'अमृतस्य पुत्राः'**– जो मृत्यु से परे अमृत तत्त्व है, तुम उसकी सन्तान हो। किन्तु उन परमात्मा तक पहुँचने के लिए भजन की जागृति आवश्यक है और वह तभी संभव है जब हम-आप अभ्यास करें, नाम जपें, सुरत लगायें। जहाँ श्रद्धा की डोरी लग जायेगी, भगवान आपकी आत्मा से जागृत होकर प्रेरक के रूप में खड़े हो जायेंगे, मार्गदर्शन करने लगेंगे। अब तक जीव संसार में भटक गया था। वह अपने उद्गम को छोड़कर न जाने कहाँ भटक रहा है। भजन की जागृति के साथ वह पलटकर अपने नैहर परमात्मा की ओर, स्वरूप की ओर गमन करने लगता है।

गौना तो कन्याओं का होता है। यह कन्या कैसी है?

बिना मात की लड़की जाई तरकी पहिने हियरवा।

बिना माता के ही लड़की पैदा हो गयी। ईश्वर-पथ में लौरूपी लड़की; वह बिना माँ-बाप की है। वृत्तियाँ अनन्त हैं। उनमें एक वृत्ति है ईश्वर के अनुरूप लौ। जो प्रसुप्त थी, जागृत हो गयी; यही है **'बिना मात की लड़की जाई'**। जहाँ लौ जागृत हुई, प्रभु से लगन लग ही गयी तो हृदय में तर्क पैदा हो जाता है कि भगवान क्या हैं? कहाँ रहते हैं? झूठ क्या है? सच क्या है? मन उसकी खोज करने लगता है, चिन्तन में डूबकर मनन करने लगता है, स्वाध्याय चलने लगता है। जिसके प्रति लौ जागृत हुई, तुरन्त उसके विषय में तर्क-कुतर्क चलने-उमड़ने लगते हैं।

गुरु महाराज से हम बहुत प्रश्न किया करते थे। रात्रि के दस बजे, एकान्त में, जब उनके पास कोई नहीं होता था, हम अपनी शंकायें प्रस्तुत करते थे। महाराजजी बहुत खुश होते थे, समाधान करते थे और कहते थे– हो, अधिकारी के यही लक्षण हैं कि उसके अन्दर प्रश्न पैदा होते रहें, तर्क उठते रहें। यदि कहीं पहुँचने के लिए कोई विकल है तो वह छटपटाने लगेगा, इनसे परामर्श लेगा, उनसे परामर्श करेगा, साइनबोर्ड पढ़ेगा, सन्तोष नहीं हुआ तो दुकानों पर पूछेगा– लगनशील के यही लक्षण हैं– **'तरकी पहिने हियरवा'**– हृदय में तर्क जागृत हो गया, खोज शुरू हो गयी। इसके साथ ही वह,

मांग सँवारे बेसर पहिने कँघा लीन्हे करवा।। ससुरा से गवना....

संसार में महिलाओं द्वारा सिर के मध्य से कानों की ओर बालों में कंघी घुमाने से एक रेखा बन जाती है जिसे मांग कहते हैं। इसमें सुहाग का प्रतीक सिन्दूर डाल देने से मांग भरपूर कही जाती है किन्तु परमात्मा में जब से लौ लगी है, उन्हें प्राप्त करने के लिए मानसिक प्रवृत्तियों को सँवारना मांग सँवारना है।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

(मानस, 5/42/5)

निर्मल मनवाला जन ही मुझे प्राप्त करता है। कपट, छल-छद्मवाला व्यक्ति मेरे पास कभी किसी काल में नहीं पहुँच पाता। इसलिए लौ जागृत होने पर तर्क-वितर्क चलने लगा। ज्यों-ज्यों निर्णय मिला, साधक मानसिक

प्रवृत्ति को सँवारने लगा, '**बेसर पहिने**'– ब्रह्मविद्यारूपी बेसर धारण किया। बेसर नाक में पहने जानेवाला आभूषण है जो लक्ष्य का द्योतक है। उस पथ पर जाना है तो उसकी विद्या भी है जिसका नाम ब्रह्मविद्या है। यह ब्रह्मपर्यन्त दूरी तय कराने में सहायक है। साधक ब्रह्मविद्यारूपी बेसर पहनता है, अन्य चिन्तन छोड़कर उसे धारण करता है। '**कंघा लीन्हे करवा**'– लौरूपी लड़की कर्त्तव्यरूपी कंधी हाथ में ले लेती है। यदि लगन जागृत है तो पथिक कर्त्तव्य-पथ पर सदा अडिग रहता है। इस गौने में पति कौन है?–

निज लड़के को खसम बनायो छः थूनी का मड़वा।

लौरूपी लड़की! लौ भली प्रकार परिपक्व अवस्था में पहुँच गयी तो भगवान प्रकट हो जाते हैं। भगवान के जन्म का कारण लौ है। वह है तो सर्वत्र किन्तु जन्मता है ऐसी लौ के अन्तराल में, लगनशील के हृदय में। ख्याल के सम होने पर लक्ष्य विदित होता है इसलिए खसम। ख अर्थात् ख्याल, चिन्तन। इन्हें समेटकर उस परमात्मा के चिन्तन में सम किया, स्थिर किया। सारे विचार सिमटकर एक प्रभु में स्थायित्व कैसे लेंगे? इसके लिए चाहिए '**छः थूनी का मड़वा**'। संसार के उद्‌गम के कारण हैं षड् विकार। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर– ये षड्विकार सिमटकर षडैश्वर्य में परिवर्तित हो जायँ। षड्विकार अपनी जगह पर प्रसुप्त हो जाते हैं, जीवित अवश्य रहते हैं। उसकी जगह विवेक, वैराग्य, शम, दम, त्याग, तितिक्षा ले लेते हैं तो मंडप तैयार हो जाता है, भगवान की छत्रछाया हो जाती है। भगवान की अनुकम्पा के अन्तर्गत साधक, भक्त चलने लगता है। उस समय,

'सखी सहेलरि मंगल गावैं'

आदि शंकराचार्य से शिष्यों ने पूछा– भगवन्! दुनिया में शत्रु कौन है? मित्र कौन है? प्रश्नोत्तरी में है–

के शत्रवः सन्ति निजेन्द्रियाणि तान्येव मित्राणि जितानि यानि।

शंकराचार्य ने कहा– अपनी इन्द्रियाँ ही शत्रु हैं और यदि इन्हें जीत लिया जाय तो यही मित्र बनकर मित्रता में बरतती हैं। इन्द्रियाँ अब सखी

हैं, संयत हैं, ईश्वर के प्रति विचारों को सम करने में लगी हैं, ख्यालों को सम करने में लगी हैं। षड्विकार षडैश्वर्य में बदल गये। प्रभु की छत्रछाया मिल गयी। इन्द्रियाँ जो अब तक शत्रु थीं, इतनी संयत हो गयीं कि सखी सहेलरि बन गयीं। जो पहले अमंगल गायन कर रही थीं, परम मंगल स्वरूप की प्राप्ति का गायन करने लगीं। आँखें वही देखने लगी, कान वही सुनने लगे किन्तु **'पड़ि गये चकर भँवरवा'**। इतनी अनुकूल परिस्थितियों में भी माया चक्कर लगाती रहती है क्योंकि माया अभी जीवित है। एक भँवर पड़ जाता है। नदी में भँवर डुबाकर दूर फेंक देने के लिए होता है। यही कौशल माया का भी है। जब तक दूरी तय न हो जाय, यह कभी-कभी साधक को घसीटकर बाहर फेंक देती है। ऋद्धियों-सिद्धियों के भँवर पड़ने लगते हैं। उससे वही बच पाता है जिसका भजन जागृत है, भगवान रथी हैं। उन्हीं के निर्देशन में चलकर प्रकृति के द्वन्द्व में भटका हुआ जीव स्वरूप की ओर गमन कर पाता है। केवल राम-राम जपकर या ओम्-ओम् जपकर कोई मुक्ति तक की दूरी नहीं तय कर सकता। वह तभी संभव है जिस परमात्मा की हमें चाह है, हमारी पुकार ऐसी हो कि वह हमारे स्तर पर उतर आये, हमारी आत्मा से जागृत होकर मार्गदर्शन करने लगे। उन्हीं के निर्देशन में जीव **'उलटि चल्यो नैहरवा'**– अपने उद्‌गम की ओर गमन करता है, भँवर से बच पाता है। इस गौने में बारात कैसी है?

सोलह पाँच पचीस साजि के चल भये चारि कहँरवा।

सोलह तत्त्वों का आपका सूक्ष्म शरीर है– दस इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार, तेजस और प्राज्ञ! इन अन्तःकरणों में दूसरी तरंगें, दूसरे विचार न आने पायें। इस प्रकार अन्तर्जगत् को साज-सँवारकर, पञ्चमहाभूत– क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर– इन पाँच तत्त्वों का पाँचों में सञ्चार पचीस प्रकृति कहलाता है। जैसे– आकाश में पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि सभी हैं, प्रधानता आकाश की है; वायु में पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश सभी हैं, प्रधानता वायु की है। इन पाँचों का जब पाँचों में सञ्चार होता है तब इनमें क्रिया होती है। इनसे उद्‌भूत पञ्च तन्मात्राएँ– रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श– इन सबको

सजाया गया, इष्ट के अनुरूप ढाला गया। आँखें रूप देखती हैं, कान शब्द सुनते हैं, त्वचा स्पर्श करती है। अब तक ये बाहर क्रियाशील थीं, बाहर देखती थीं, हृदय में प्रभु का स्वरूप देखने लगीं। कान बाहर सुनते थे, अब वह शब्द पर तत्पर रहें कि भगवान कहते क्या हैं? एक भी आदेश व्यर्थ न जाय, अनसुना न होने पाये। इन सबको सजाने में चार कहार लगते हैं। नाम, रूप, लीला और धाम– ये चार कहार हैं। गुरु महाराज प्रायः कहा करते थे– बेटा! पहले नाम; नाम से रूप, रूप से लीला और लीला से धाम।

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥

(मानस, 1/20/6)

नाम का सुमिरन करें, बिना रूप देखे ही करें। रूप पहले आपने देखा नहीं, ध्यान कहाँ से धर लोगे? इसलिए पहले नाम का सुमिरन करें। जब स्नेह की डोर लग जायेगी तो रूप भी अपने आप उभरकर सामने आ जायेगा, हृदय में प्रकट हो जायेगा। समर्पण और श्रद्धा के साथ नाम जपने से शनैः-शनैः नाम में सुरत लगने लगी तो रूप आ जायेगा। अब आप रूप देखें, ध्यान धरें। किसका ध्यान धरें? कैसे धरें?–सब स्पष्ट हो जायेगा। भगवान सब बता देंगे। फिर लीला! जहाँ स्वरूप देखने लगे, सुरत से डोरी लगी, तहाँ भगवान अपनी विभूतियों से अवगत कराने लगते हैं, इसका नाम है लीला। इस लीला को कागभुशुण्डिजी ने देखा था–

उदर माझ सुनु अंडज राया। देखेउँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया॥

(मानस, 7/79/3)

अनेकों ब्रह्माण्ड देखे, एक-एक ब्रह्माण्ड में सौ-सौ वर्ष तक रहे। उदर में ही अपनी कुटिया में भी निवास किया और अन्त में कहते हैं–

उभय घरी महँ मैं सब देखा। भयउँ भ्रमित मन मोह बिसेषा॥

(मानस, 7/81/8)

दो ही घड़ी के अनुभव में मैंने यह सब देख लिया। यह अनुभव था। भगवान जब अपनी विभूतियों से अवगत कराते हैं तो आपमें दृष्टि बनकर

खड़े हो जायेंगे। सामने स्वयं हो जायेंगे और जो युगों का कोर्स है, आपको दो घड़ी में बता देंगे। इसी का नाम है लीला। जैसे-जैसे आपकी साधना का स्तर उठता जायेगा, लीला भी उन्नत होती जायेगी। शिशु कक्षा के छात्र को पी-एच.डी. तैयार करानेवाला गुरु शोध का विषय नहीं पढ़ायेगा। वह छात्र की क्षमता के अनुरूप ही कुछ बता देगा। भगवान तो भगवान ही हैं। साधक की जो स्थिति है, वह वहीं से पढ़ाने लगते हैं। उनके निर्देशन में चलते-चलते साधक ने लीलाधारी का स्पर्श कर लिया तो धाम! धाम माने परमात्मा का दर्शन, उनका स्पर्श और उनमें स्थिति मिल जाती है। इस प्रकार नाम, रूप, लीला और धाम भक्तिपथ के चार क्रमोन्नत अंग हैं। यही इस पंक्ति में है– **'सोलह पाँच पचीस साजि के चल भये चारि कँहरवा।'**– ये उत्तरोत्तर विकास करते-करते धाम तक पहुँचा देंगे। यदि भगवान आपसे कुछ नहीं कहते, नाम जागृत नहीं है, रूप जागृत नहीं हुआ, लीलाधारी का दर्शन, स्पर्श और विलय नहीं मिला, स्थिति नहीं मिली तो कैसा भजन? इन समस्त प्रक्रियाओं से गुजरते समय माया का पूरा द्वन्द्व आपके साथ-साथ रहता है।

डोली डोली फिरे भँवर में, तीन धार का नरवा।

शरीर एक डोली है। चिन्तन इसके अन्तराल में है। डोली अर्थात् हृदय के अन्दर ही सतत् मनन-चिन्तन करते रहने पर भी तीन धारवाला नाला पार करना पड़ता है जिसमें भँवर उठती रहती है। त्रिगुणमयी प्रकृति ही तीन धार का नाला है। सात्त्विक, राजस और तामस– यह त्रिगुणमयी माया समय-समय पर उड़ेरा (झोंका) देती रहती है। कभी तामसी गुण आ जायेगा तो आलस्य, निद्रा और प्रमाद घेर लेता है। यही है भँवर। कभी राजसी गुणों की प्रबलता हुई तो साधक ऐश्वर्य माँगने लगता है। पड़ गया भँवर। सात्त्विक गुण के बाहुल्य में धारणा-ध्यान-समाधि पराकाष्ठा पर पहुँचते हैं तो अभिमान चढ़ बैठता है कि मेरे जैसा ज्ञानी-ध्यानी कौन है! फिर वह पड़ गया भँवर में। यद्यपि साधक हृदय के अन्दर ही है, चिन्तनरत है फिर भी त्रिगुणमयी प्रकृति के झोंके आते रहते हैं। समर्पण के साथ लगा साधक इससे उबर पाता है अन्यथा कोई न कोई भँवर, कोई न कोई लहर उसे लपेट लेती है। अन्त में कवि कहता है–

सात चारि के बीच घुमाइके, ले गये ससुर दुअरवा।

भगवत्पथ की सात भूमिकायें हैं। पहली भूमिका है शुभेच्छा, शुभ के प्रति इच्छा। इच्छा होगी तो विचार अवश्य होगा। यही है दूसरी भूमिका सुविचारणा। ज्योंही चिन्तन आगे बढ़ा, तीसरी भूमिका तनुमानसा! अभी हमारा तन यह स्थूल शरीर है किन्तु चिन्तन उन्नत होने पर साधक मन में ही तनवाला हो जाता है। मन जितना विकृत, उतना ही तन बाहर और मन जितना संयत, उतना ही भीतर चिंतन टिकता है। मन में ही वह शरीरवाला हो जाता है। चौथी है सत्त्वापत्ति– नित्य, सत्व परमात्मा के प्रति विचार स्थिर हो जाता है, श्रद्धा टिक जाती है। पाँचवीं भूमिका है असंसक्ति अर्थात् आसक्ति का अभाव। संग मिले लेकिन प्रभावित न कर सके। असंग रहने की क्षमता! ऐसा योगी कहीं भी भजन कर सकता है, ठीक वैसे ही जैसे कहीं एकान्त में करता है। प्रकृति के वातावरण का प्रभाव अब उसका स्पर्श नहीं कर पाता।

पूज्य गुरु महाराजजी बताया करते थे कि साधनाकाल में निराधार विचरण के क्रम में वे एक बार मुंबई चले गये। रास्ते में गाड़ी की खटर-पटर या यात्रियों के कोलाहल से भी उनके भजन में बाधा नहीं पड़ी। रास्ते में तीन दिन लग गये और तीन-चार दिनों का उपवास महाराजजी के जीवन में उन दिनों आये दिन की घटना थी। महाराजजी मुंबई में उतर गये। उस दिन उन्हें इतनी तेज भूख लगी कि उनका मन करता था कि हलवाई के जलेबी की थाल ही लेकर भाग चलें। मन में होता था, इसे लेकर भाग तो सकते हैं किन्तु ये लोग पकड़ लेंगे, खाने भी नहीं देंगे, पिटाई ऊपर से पड़ेगी।

महाराजजी हलवाई की दुकान से थोड़ी दूर सड़क के किनारे पटरी पर जमीन पर ही बैठ गये। उन्होंने विचार किया– भोजन की चिन्ता क्यों? जिन प्रभु ने तुम्हें साधु बनाया, वे जानें। महाराजजी भजन में बैठ गये। उनका ध्यान लग गया। समाधि लग गयी। दिनभर उस रास्ते से हजारों गाड़ियाँ आयीं-गयीं, उनके चीखते हार्न; महाराजजी को कुछ पता ही न चला। प्रातः छः बजे से बैठे महाराजजी को वहाँ शाम के छः बज गये। जैसे महाराजजी वहाँ थे ही नहीं। महाराजजी के मन में असीम शान्ति और बड़ी मस्ती थी। भूख भी भूल

गये थे। इतने में एक भक्त उसी भीड़ में से छँटकर भोजन लेकर आया। उसने कहा– "सन्तजी!" महाराजजी के कान में सुनाई पड़ा 'गुन्न!' दूसरी बार उसने कहा– "सन्तजी!" महाराजजी ने सोचा– भगवान अनुभव में हमें साधु कह रहे हैं। उन्हें तब भी भान नहीं हुआ कि बाहर से कोई पुकार रहा है। जब तीसरी बार आवाज आई 'सन्तजी!', तब महाराजजी की समाधि टूटी। उन्होंने देखा– एक भाविक थाल लिये खड़ा है। उसने पुनः कहा– "सन्तजी! प्रसाद पावैं।" उसने थाल नीचे रख वहीं महाराजजी को विधिवत् खिलाया, हाथ धुलाया। वह हलवाई भी आकर महाराजजी के चरणों में गिरा। महाराजजी को बड़ी प्रसन्नता हुई कि दिनभर गाड़ियाँ दौड़ती रहीं और उन्हें कुछ पता ही न था। वह कहा करते थे– साधु का भजन तब सही है कि बैण्ड-बाजा बजता रहे और उसे पता भी न चले। कोलाहल होता रहे किन्तु उसे सुनाई न दे।

जब पूज्य महाराजजी भगवान के आदेशानुसार अनुसुइया के घनघोर जंगल में रहने लगे, उनकी तपोभूमि क्रमशः व्यवस्थित आश्रम के रूप में परिणत हो गयी। दूर-समीप के भाविक भक्त गुरु महाराज के दर्शनार्थ आने लगे। कर्वी के एक भक्त ने महाराजजी को एक रेडियो भेंट कर दिया। उन दिनों रेडियो उस क्षेत्र में दुर्लभ वस्तु थी। चीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया था। बहुत से भारतीय सैनिक युद्ध में हताहत हो रहे थे। महाराजजी ने एक दिन कहा– "कोई हमें भी लड़ाई के समाचार सुनाता।" उसी सन्दर्भ में उस भक्त ने रेडियो ला दिया और बोला– "महाराज! अब यह नित्य समाचार सुनाता रहेगा।" आश्रम में रेडियो देख हमने गुरु महाराज से कहा– "महाराजजी! दुनिया रात-दिन यही बाजा सुनती रहती है। संसार की चीख-पुकार से दुःखी लोग जंगल के एकान्त में सन्तों की शरण में शान्ति की खोज में आते हैं। यहाँ भी वही चिल्लपों! इससे लोगों के मन में अभाव होगा कि देखो न, महात्मा होकर भी रेडियो सुन रहे हैं।" महाराजजी बोले– 'रेडियो से हमसे कुछ मतलब नहीं है। ई चीनवाली लड़ाई सुनै का मन रहा, ईकै मारा आया है। तू कहत है तो हटा देते हैं। जाने दो।" रेडियो जिसका था, उसके पास चला गया आश्रम से बीस-पचीस किलोमीटर दूर कर्वी में।

दो-एक दिन पश्चात् एक ओवरसियर आश्रम पधारे। उन्होंने कहा– "महाराजजी! सुना है कि आपके पास रेडियो आया है?" महाराजजी ने कहा– "हाँ, आया तो था हो! लेकिन हमार एक शिष्य कहत है लोगन में अभाव हो जाई। ई आपके शोभा नहीं है। दुःखी लोग यहाँ शान्ति के लिए आते हैं कि यहाँ कल्याण के चार शब्द मिलेंगे और यहाँ भी 'हवा में उड़ता जाये मेरा लाल दुपट्टा मलमल का' जब यही सुनने को है.....(हँसते हुए) इसीलिए वापस भेज दिया।"

उन्होंने कहा– "महाराजजी! जो पूर्णत्ववाले महापुरुष होते हैं, उनके यहाँ अप्सरायें नाचती रहें, छत्तीसों रंग बरसते रहें, उनके ऊपर न शुभ संस्कार पड़ता है न अशुभ संस्कार पड़ता है। गीता में भी तो है महाराज! **'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥'** *(2/70)*– योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं।"

गुरु महाराज ने कहा– "भाई, मैंहूँ जानत हूँ। मोरेउ लिये कुच्छौ नहीं है लेकिन......बुला ओके!" महाराज ने हमको बगिया से बुलवाया। हमारे आने पर उनका कथन बताया और कहा– "देख, ई का कहत हैं?" हमने कहा– "महाराज! यह ठीक कहते हैं। पूर्णत्ववाली अवस्था तो आपकी है, हमलोगों की तो नहीं है।" महाराजजी ने कहा– "तू आपन देख! भजन तब सही है जब छत्तीसो रंग बरसते रहें और सुनाई न पड़े, कुछ दिखाई न पड़े। तू कर भजन!" फिर रेडियो आ गया। उसमें भी महाराजजी केवल समाचार सुनते थे और दोपहर में गोरखपुर से दो गाने आया करते थे, उसे सुनते थे। विदेशिया और बटोहिया दो अच्छे भोजपुरी गायक उन दिनों थे। महाराजजी उनके लोकगीत सुनते थे। कभी दो-एक गीत भी सुन लेते थे।

रेडियो से समाचार तो नित्य ही प्रसारित होते किन्तु एक भी समाचार हमें सुनायी नहीं पड़ता था; क्योंकि महाराज ने कहा था न कि 'सुनाई न पड़े' इसलिए समाचार आने के समय हम अपने चिन्तन में लग जाते, चिन्तन में इतना डूब जाते कि कुछ भी सुनाई न पड़ता। किन्तु एक दिन उस रेडियो पर

एक ऐसा गीत आया कि उसका एक-एक शब्द चोट करता गया। गीत के बोल थे– **'जरा मन की किवड़िया खोल, सैंया तेरे द्वारे खड़े।'** बस इतना ही याद हो पाया और गीत समाप्त हो गया। हमने महाराजजी से कहा– "वही भजनिया फिर लगा दें, महाराजजी!" महाराजजी बोले– "एहमें एकै बार आवत है रे!" जैसे हमारे महाराजजी थे, उतने ही विद्वान हम भी थे। अब भी नहीं मालूम कि रेडियो, टेलीविजन कैसे चलाया जाता है। यह था भगवत्पथ का पाँचवाँ स्तर असंसक्ति।

छठीं भूमिका है पदार्थभावनी। पदार्थ अर्थात् संसार! पदार्थ है ही नहीं। संसार है ही नहीं। एक ऐसी अवस्था आती है कि,

सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।

(मानस, 1/7/2)

जहाँ भी दृष्टि पड़ती है, साधक आराध्यदेव के स्वरूप को ही खड़ा पाता है। पदार्थ का अभाव है तो खतरा कौन करेगा?

सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना।।

(मानस, 2/130/7)

न स्वर्ग स्वर्ग के रूप में रह जाता है जिसकी हम कामना करें और न नरक ही नरक के रूप में रह जाता है जिससे हम भयभीत हों। यही है पदार्थाभाव अर्थात् पदार्थ का अभाव। सर्वत्र ईश्वरमयी दृष्टि का सूत्रपात् हो जाता है।

भक्तिपथ की सातवीं और अन्तिम भूमिका है तुर्यगा। तुरीयावस्था साधक की रहनी हो जाती है। जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति के अनन्तर तुरीय या समाधि की अवस्था। पूर्वजों ने मन को तुरंग की संज्ञा दी है। साधक अब मनरूपी अश्व का संचालक हो गया। अब यह मन हमें बलात् घसीटकर कहीं फेंक नहीं सकता। भक्तिपथ की ये सातों भूमिकायें और **'चार घुमाकर'**– नाम जपने के चार क्रमोन्नत सोपान– बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा हैं। बैखरी में जिह्वा के द्वारा जपा हुआ राम-राम, ओम्-ओम् उन्नत होने पर मध्यमा में ढल जाता है। मध्यमा पश्यन्ती को जगा देगी। पश्यन्ती परा में प्रवेश दिला देगी और परा की पूर्तिकाल में,

जप मरे अजपा मरे, अनहदहू मरि जाय।
सुरत समानी सबद में, ताहि काल न खाय॥

जप अनिवार्य है। जपना तो पड़ेगा, लेकिन जपते-जपते एक समय ऐसा आता है कि जप मर जाता है। कब? जब अजपा जागृत हो जाय। अजपा मरे कब? जब अनहद की जागृति मिल जाय। आज कोई दो घण्टे भजन करता है, कोई दस घण्टे तो कोई चौदह घण्टे; लेकिन कोई-कोई,

जागत में सुमिरन करे, सोवत में लौ लाय।
सुरत डोर लागी रहे, तार टूटि ना जाय॥

यह है अनहद! जब भजन माप-तौल की सीमाओं से ऊपर उठ जाय। किन्तु अनहद ही सही, भजन करना तो पड़ रहा है। एक समय ऐसा आता है जब सुरत शब्द में समा गयी तो **'ताहि काल न खाय'**– वह अकाल पुरुष में स्थिति प्राप्त कर लेता है। सुरत जिस शब्द को सुन रही थी, उस शब्द में समा गयी। चित्त का निज स्वरूप शून्य हो गया, शब्द मात्र शेष बचा। शब्द ही ब्रह्म है किन्तु इस अवस्था की प्राप्ति के लिए बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा– इन चारों के बीच से घूमना पड़ेगा अर्थात् क्रम-क्रम से चारों स्तर से साधना-भजन करते हुए गुजरना पड़ेगा, योग की सातों भूमिकाएँ तय करनी होंगी। **'सात चारि के बीच घुमाइके, ले गये ससुर दुअरवा।'** ससुर– स माने वह परमात्मा! उन परमात्मा के आमने-सामने खड़ा कर दिया। अब,

कह पुरुषोत्तम पिया पाइ के, सोवन लागी कोरवाँ।

सात भूमिकायें और जप की चार श्रेणियाँ साधक को **'ले गईं ससुर दुअरवा'**– उन परमात्मा के दरवाजे ले गयीं। सुरत शब्द में समाहित हो गयी। तत्क्षण **'कह पुरुषोत्तम पिया पाइ के'**– जिन्हें प्राप्त कर लेने के बाद इस जीव की प्यास सदा-सदा के लिए मिट जाती है, जीव पूर्ण तृप्ति प्राप्त कर लेता है, आगे कुछ भी पाने की इच्छा शेष नहीं रहती क्योंकि आगे प्राप्त होने योग्य कोई वस्तु बची ही नहीं, कुछ है ही नहीं। उसे पाकर जीव की प्यास सदा के लिए मिट जाती है इसलिए भगवान को एक सम्बोधन 'पिया' कहकर

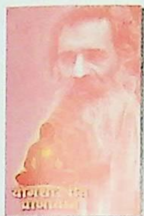
भी दिया। उस पिया, परम प्रियतम को प्राप्तकर जीवात्मा **'सोवन लागी कोरवाँ'**– उनके अंक में विश्राम करने लगी। अब, **'भजन हमार हरि करें, हम पायो विश्राम।'** भगवत्ता को प्राप्त ऐसे महापुरुष पेंशनीयर हो जाते हैं।

राम झरोखे बैठे कर सबका मुजरा लेय।
जैसी जाकी चाकरी, तैसी ताको देय॥

वह राम के साथ झरोखे में बैठ गया। **'सबका मुजरा लेय'**– वह सबकी प्रार्थनायें सुनता है। जिसका जैसा समर्पण और जैसी पुकार है, वैसी व्यवस्था भगवान स्वयं करने लगते हैं। महापुरुष जिस स्वरूप में स्थित हैं, वह स्वरूप व्यवस्था करता है। महापुरुष तो उनकी गोद में निश्चिन्त पड़ा है। पूज्य गुरु महाराजजी इसी को इंगित कर कहते थे– ''हो! मोरे स्वरूप से लोग न जाने क्या-क्या प्राप्त कर लेते हैं, मैं भी नहीं जानता।''

॥ ॐ श्रीगुरुदेव भगवान की जय ॥

हमारे प्रकाशन



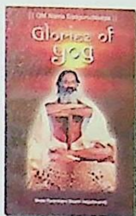
योगशास्त्रीय प्राणायाम -
योगशास्त्रीय प्राणायाम में आपने बताया है कि यम, नियम और आसन के सधते ही श्वास-प्रश्वास का शान्त प्रवाहित होना ही प्राणायाम है। अलग से प्राणायाम नाम की कोई क्रिया नहीं है। यह योग चिन्तन की एक अवस्था है। इसी का समाधान इस पुस्तक में किया गया है।
३ भाषाओं में



बारहमासी -
अपने पूज्य गुरु श्रीपरमानन्द जी महाराज को आकाशवाणी से प्राप्त भजन (ईश्वरीय गायन) बारहमासी का संकलन एवं उसकी व्याख्या की है। इसमें प्रवेशिका से लेकर पराकाष्ठा तक लक्ष्य की ओर बढ़ने का पथप्रदर्शन किया गया है।
हिन्दी भाषा में



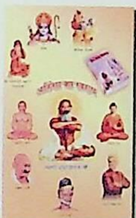
योगदर्शन-
प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या -
महर्षि पतञ्जलिकृत इस पुस्तक में बताया गया है कि 'योग' प्रत्यक्ष दर्शन है यह लिखने या कहने में नहीं आता। क्रियात्मक चलकर ही साधक समझ पाता है कि जो कुछ महर्षि ने लिखा है उसका वास्तविक आशय क्या है? साधनोपयोगी पुस्तक है।
४ भाषाओं में



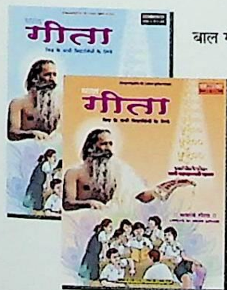
ग्लोरिस आफ योग -
हठ, चक्र, भेदन और योग, प्राणायाम, ध्यान के बारे में पूर्ण परिचय,
अंग्रेजी भाषा में



प्रश्न समाज के-
उत्तर गीता से -
इस पुस्तिका में सामाजिक, आध्यात्मिक एवं धार्मिक कैसे भी प्रश्न हों, उनका गीता के आलोक में समाधान किया गया है।
हिन्दी भाषा में



अहिंसा का स्वरुप -
अहिंसा एक उलझा हुआ प्रश्न है। मूलतः यह यौगिक, आन्तरिक साधना का शब्द है। इस पुस्तक में हम पायेंगे कि हमारे पूर्वज महापुरुषों ने अहिंसा को किस संदर्भ में लिया है।
४ भाषाओं में



बाल गीता-

यह पुस्तिका बालक के निर्मल मन में एक परमात्मा के प्रति पूर्ण आकर्षण पैदा कर समाज एवं साधना के क्षेत्र में सहज प्रवेश के लिए उपयोगी है। इसमें समर्पण का पाठ्यक्रम अंकित है जिससे बच्चों में धर्म-सन्देश का बीजारोपण, संस्कार पड़ेंगे। वे इस राह पर चलेंगे और अपने ही भगवत्-स्वरूप को प्राप्त कर लेंगे।

४ भाषाओं में



भजन से लाभ (नवयुवकों की जिज्ञासाएँ) -
इस पुस्तिका में नवयुवकों के अनेक प्रश्नों का संक्षेप में समाधान करते हुए भजन की अनिवार्यता पर प्रकाश डाला गया है। यदि एक परमात्मा में मानसिक स्तर से लगते बन गया तो उन प्रभु के संरक्षण में साधना चलती रहेगी, बाह्य कार्यों में भी मदद मिलेगी और आवागमन से मुक्ति तो मिलना ही है क्योंकि ईश्वर-पथ में आरम्भ का नाश नहीं होता।
हिन्दी भाषा में

MP3 ऑडियो सिडिज्



श्री स्वामीजी के मुखारविन्द से निःसृत अमृतवाणियों का संकलन वाल्यूम १ से ६० तक।



‘श्रीमद्भगवद्गीता’ की साधना

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।। (१३/२२)

वह पुरुष **‘उपद्रष्टा’**– हृदय-देश में बहुत ही समीप, हाथ-पाँव-मन जितना आपके समीप है उससे भी अधिक समीप द्रष्टा के रूप में स्थित है। उसके प्रकाश में आप भला करें, बुरा करें, उसे कोई प्रयोजन नहीं है। वह साक्षी के रूप में खड़ा है। साधना का सही क्रम पकड़ में आने पर पथिक कुछ ऊपर उठा, उसकी ओर बढ़ा तो द्रष्टा पुरुष का क्रम बदल जाता है, वह **‘अनुमन्ता’**– अनुमति प्रदान करने लगता है, अनुभव देने लगता है। साधना द्वारा और समीप पहुँचने पर वही पुरुष **‘भर्ता’** बनकर भरण-पोषण करने लगता है, जिसमें आपके योगक्षेम की भी व्यवस्था कर देता है। साधना और सूक्ष्म होने पर वही **‘भोक्ता’** हो जाता है। **‘भोक्तारं यज्ञ तपसाम्’**– यज्ञ, तप जो कुछ भी बन पड़ता है, सबको वह पुरुष ग्रहण करता है। और जब ग्रहण कर लेता है, उसके बाद वाली अवस्था में **‘महेश्वरः’**– महान् ईश्वर के रूप में परिणत हो जाता है। वह प्रकृति का स्वामी बन जाता है; किन्तु अभी कहीं प्रकृति जीवित है तभी उसका मालिक है। इससे भी उन्नत अवस्था में वही पुरुष **‘परमात्मेति चाप्युक्तो’**– जब परम से संयुक्त हो जाता है, तब परमात्मा कहलाता है। इस प्रकार शरीर में रहते हुए भी यह पुरुष आत्मा **‘परः’** ही है, सर्वथा इस प्रकृति से परे ही है। अन्तर इतना ही है कि आरम्भ में यह द्रष्टा के रूप में था, क्रमशः उत्थान होते-होते परम का स्पर्श कर परमात्मा के रूप में परिणत हो जाता है।

– ‘श्रीमद्भगवद्गीता’ भाष्य ‘यथार्थ गीता’ से साभार

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट
न्यू अपोलो इस्टेट, गाला नं. ५, मोगरा लेन (रेल्वे सब-वे के पास),
अंधेरी (पूर्व), मुंबई - ४०००६९, भारत
दुरध्वनी - ०२२-२८२५५३००
ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com

